मेरे
राम का
मुकुट
भीग रहा है

(निबन्ध)

नेशनल पब्लिशिंग हाउस • दिल्ली

विद्यानिवास मिश्र

अपनी बात

इस निबन्ध संग्रह में आधे निबन्ध पुराने हैं और आधे नये। पुराने निबन्ध इस निबन्ध संग्रह की यायावरी पर्याकुल वृत्ति के समीप हैं, इसलिए यहाँ जोड दिये गये हैं। यह वैसे अद्भुत लगता है कि सत्रह वर्षों का अन्तराल हो गया कि मैं विन्ध्य प्रदेश में प्रवासी की जिन्दगी व्यतीत करता हुआ भी आत्मीयता पा रहा था और एकाएक उस प्रदेश से बिछुड़ना पडा। उस आत्मीयता की तलाश में भीतर के जगलों और वीरान पठारों की यात्रा करता रहा हूँ, एक तरह से वह प्रवास अपने दर्द के साथ घर में ही आ पहुँचा है।

इन निबन्धो के बारे में और कोई वक्तव्य देना मैं आवश्यक नही समझता। जिन स्थानों और व्यक्तियों ने मुझसे इन निबन्धो को लिखवाया है, उनके नाम लिये बिना मन से उनके प्रति आभार ज्ञापित करता हूँ। इन निबन्धों के सग्रह की पाण्डुलिपि तैयार करना मेरे लिए एक समस्या थी। मेरे स्नेही बन्धु श्री पद्मधर त्रिपाठी ने बार-बार उकसा कर बिखरे हुए सूत्र जोड़ने के लिए विवश किया। मेरे स्नेह-भाजन जैनेन्द्र वात्स्यायन ने किसी तरह इस सामग्री को सांगोपाग जुटाकर, इस निबन्ध संग्रह को प्रकाशन के लिए प्रस्तुत कर दिया; इनको मैं हृदय से आशीर्वाद देता हूँ।

—*विद्यानिवास मिश्र*

क्रम

मुकुट, मेखला और नूपुर

विन्ध्य के अंचल में मुझे गये बीस संवत्सर से कुछ अधिक हो रहा है। मैं रुककर पीछे देखता हूँ तो सब से पहले मेरा मन हिमालय के चरणो में बिछी हुई धानी तराई की स्निग्ध स्मृतियों मे भीग-सा उठता है। मेरा जन्म उसी तराई की धरती में हुआ है और बचपन भी उसी के रस से सिंचित होकर के पला है। यह सही है कि साल-भर बाण और तुलसी की हियलगी विन्ध्य-भूमि में रह-कर भी इसके बन-निर्झरो मे, इसके कला-केन्द्रों मे, सोन, नर्मदा,गोपद, बनास, केन, बेतवा और दशार्ण की पृथ्वी के हृदय से नदियों की चट्टानो के साथ अठखेलियों में और अतीत के अधखुले पृष्ठों सरीखे बोलते शिल्पों में रमा घूमा हूँ। मन इनमे घुलकर किसी से एक न हो सका। इसका कारण यह नहीं है कि मैं अपने को प्रवासी अनुभव करता हूँ, बल्कि ठीक विपरीत मुझे उस अतीत के दुलार की धरती का इसमें पूरक दान मिलता है। जब-जब मैंने कोसो दूर झाड़ियों और पथरीली चट्टानों के बीच मे वसुधा के वक्ष से स्तन्य-पान करती हुई सरिताओ को देखा है, तब-तब मुझे अनन्त और अपार जीवन का उमड़ाव लिये वे अधीर नारायणी, सदानीरा, कौशिकी सरीखी नदियाँ याद आयी हैं, जिनके प्रेमावेग में जाने कितने शतसहस्रजनो का विध्वंस प्रतिवर्ष निहित रहता है, उनके अधैर्य की बराबर यहाँ उपशान्ति मिली है। जब मैंने जेठ में धांय-धांय जलती छोटी-छोटी पहाड़ियों की चोटियो पर से खड़े होकर के तृणविहीन और धूसर भूमि का फैलाव निहारा है, तब-तब मुझे हिम-शैल-मालाओ का स्वर्ण-रंजित अनन्त सौभाग्य औ बैसाख-जेठ मे गलते हुए हिमपिण्डों के उमड़ाव से लहराते हुए साठी (षष्ठि) धान के झूमते खेत भी नजर आये हैं, मुझे लगा है कि रूप के अनन्त सौभाग्य को विरह की साधना मानों यहीं मिली है और मुझे अज्ञेय की अमर पंक्तियां याद आयी हैं, 'विरह की पीड़ा न हो तो प्रेम क्या जीता रहेगा।' मेरे मन मे सहसा यह खयाल आया है कि हिमालय भारत के उस गौरव का प्रतीक है, जिसका दर्शन उसने अपनी सभ्यता के प्रथम यौवन मे कालिदास की प्रसन्न वाणी में किया है और जिसकी नन्दिनी को शिव का अर्द्धांग बनाके संगीत, नृत्य, नाट्य, शिल्प, काव्य आदि समस्त के

स्रोत गंगा, यमुना, सरस्वती की तरह बहाया है और विन्ध्य उस दारुण तपस्या की, बर्बर आँधियों से बचने के लिए उस विवश वनवास की, कला, संस्कृति और समृद्धि को बहुत साधना से सिंचित करने के प्रयत्न की, अहर्निश अपलक जागरण की और आपसी बिलगाव में भी वीरता के अद्भुत और अप्रतिम आदर्श के निर्माण की भूमि है। मुझे पहले तो अपनी भोजपुरी का धानी आँचल न मिलने से तपन मालूम हुई, पर बाद में 'अपने परिधूसर वसाना' शकुन्तला की तरह और उत्तर रामचरित की सीता की तरह मूर्तिमती विरह-व्यथा-सी मैं इस करुण सुन्दरता को पाकर कृतार्थ ही हुआ और मुझे इन बीहड़ और निर्जन वनों में कभी-कभी हजारों मील दूर अनन्त महासागर का मन्द-मन्द गर्जन और शरद् की रात्रि में उस अनन्त नील के उज्ज्वल तरंगित ज्वार में सोयी हुई धरती के स्वप्न का चन्द्रोदय भी मैंने देखा है, तब जैसे गीत की कड़ी पूरी हो गयी है। मुकुट, मेखला और नूपुर जैसे इन तीन शृङ्गारों के प्रतिरूप से हिमालय, विन्ध्य और सागर भारत की अनूठी समंजसता के विधायक हों, मुकुट की दीप्ति, मेखला की ध्वनि और नूपुर का उन्मद विलास परस्पर पूरक और उपकारक है और विलग नहीं।

जो एक विशेष प्रान्त के मोह में, एक विशेष जनपद के मोह में और एक विशेष कोने के मोह में इस विशाल देश की इस विशाल मोहकता को भूल जाता है, उसके ऊपर मुझे तरस आता है। मुझे केवल इतना समझ में आ सकता है कि जिस माँ का दूध पिया हो, उसका ऋण कुछ विशेष होता है; पर उस ऋण का शोध भी मेरी समझ में सब से बड़ा यही है कि वैसे दूधवाली जितनी माताएँ हों, सब की वत्सलता की पात्रता अपने में लायी जाय, क्योंकि माँ एक की नहीं, सब की है और वह अनेक होते हुए भी एक है।

इस मातृ-भूमि की वन्दना में जिन कवियों ने गीत गाये हैं, उन सब ने इसको खण्ड करके नहीं देखा, खण्ड को देखते हुए भी इसकी अखण्डता को उसमें पाने की कोशिश की, पर इस अखण्ड भूमि को अपने खण्ड से तिरोहित करने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। उनकी पगडण्डी पर मैं भी चलूँगा। विन्ध्य के अंचल में आया हूँ तो हिमालय से दूर होकर नहीं, सागर से दूर होकर नहीं, गंगा और कावेरी से दूर होकर नहीं, बल्कि मन में इन सब की एकाकारता लाते हुए विन्ध्य का दर्शन करने आया हूँ। जिन लोगों को इससे अधिक पाने की मुझसे आशा होगी, उनसे मैं क्षमा चाहता हूँ।

मुझे स्मरण है कि एक बार मैं सीधी से लौटकर रीवा आया तो मेरे एक

पलामू और मध्यप्रदेश के सरगुजा के लोगों से अधिक मिलती है। वे मित्र मेरे दुर्भाग्यवश पत्रकार थे और उन्होंने बिल्कुल ठीक दूसरे दिन 'विन्ध्य प्रदेश में भोजपुरी' ऐसा एक शीर्षक एक पत्र मे छापने की कृपा कर ही दी। इसका परिणाम हुआ कि विन्ध्य की इकाई को एकदम अलग विच्छिन्न नग—वह भी ऐसा नग जो किसी अँगूठी मे जडने के लिए न हो—माननेवाले कुछ मित्रों ने एकदम आकुल होकर मुझे गहरा उलाहना दिया कि साहब आपकी मन्शा क्या है ? विन्ध्य प्रदेश के सीधी जिले को आप लेना चाहते हैं क्या ? मैंने सीधा-सा जवाब दिया कि न मुझे लेना है, न देना है; क्योकि इन चीजो के लेने-देने का सौदा करने का भार जिस पेशे के लोगो पर है, सौभाग्यवश वह मेरा पेशा ही नही है। मेरा पेशा केवल बिना शर्त के, बिना किसी प्रतिदान की आशा के धरती का रस सब जगह सब को निर्विशेष भाव से लुटाना है, केवल देना नही है। मेरे उन मित्रो को शायद ही इससे सन्तोष हुआ हो, क्योकि वे लोग तो ऐसे हैं, जो भारत के प्रत्येक साम्राज्य के उदय और अस्त, प्रत्येक कला की उड़ान, प्रत्येक साहित्य की रचना को अपनी सीमाओं मे जकड़ करके रखना चाहते हैं। मैं कम-से-कम काल की सीमा को लाँघनेवाली सरस्वती की इन प्रसादियों को देश में सिमटाकर रखने के पक्ष मे हूँ, क्योकि मेरा विश्वास है कि छोटी प्रीति बड़ी प्रीति को जन्म न दे सके और बडी प्रीति भी ऐसी प्रीति को जन्म न दे सके जिसमें प्रीतिपात्र कौन है यह पहचानना, यह अंगुलि-निर्देश करके बताना असम्भव हो जाये तो उसे मैं मनुष्य की दयनीय दुर्बलता मानता हूँ। मनुष्य की पहचान निस्सन्देह ममता है, पर साथ ही मनुष्यता का माप-दण्ड भी उस ममता का दान है। उस दान मे जिसने कजूसी की है, वह बौना बनकर रह गया है और दान देना ही नही, दान लेना भी और इसलिए दान को भी समर्पण कर देना उसकी महत्ता है। इस सम्बन्ध मे मुझे एक कहानी याद आ रही है, जिसके ऐतिहासिक सत्य-असत्य के सम्बन्ध मे कुछ मतामत देने की आवश्यकता नही है; पर जिसका दार्शनिक सत्य अचल और ध्रुव है। वह कहानी है गोरखनाथ और मधुसूदन सरस्वती के भेंट की। गोरखनाथ अपने सात सौ वर्षों की साधना को एक सिद्धिशिला मे पुंजित करके उचित पात्र की तलाश मे भटकते-भटकते काशी के घाट की सीढ़ियों पर बैठे-बैठे अपना सन्यास-दण्ड गगा की लोल लहरों मे एकाकार कर रहे हैं। इतनी बड़ी सिद्धि के स्वामी, जिससे न जाने कितने विश्वो की सम्पत्ति खरीदी जा सके, न जाने कितने चमत्कारों को न्यौछावर किया जा सके, न जाने कितने योग साधको को परिचय-मात्र देने से पागल बनाया जा सके, भिखारी बनकर उस सन्यासी के सामने खड़े हुए—'महाराज, मुझे कुछ माँगना है।' जवाब मिला, 'कहिए ! मैं भी माँगकर आपकी माग पूरी करने की कोशिश करूँगा,

क्योंकि माँगकर रखना मेरा तो व्रत ही नहीं है।' गोरखनाथ ने और विनम्र होकर कहा, 'मेरी माँग आप ही से पूरी हो सकती है और उसके लिए आपको याचक बनने की जरूरत न पड़ेगी। मैं अपने सात सौ वर्षों की साधना किसी उचित पात्र में न्यास करके यह शरीर छोड़ना चाहता हूँ ताकि नये सिरे से, नये कलेवर से नयी साधना में मैं लग सकूँ। मुझे भय इतना ही है कि यदि उचित पात्र न मिला तो मैं इस सिद्धि को लेकर भटकता रहूँगा। एक तरह से यह शरीर और साधना के लिए बेकार हो गया है और इसलिए यह सिद्धि भी अब मेरे-जैसे निरन्तर साधक के लिए दुर्वह बोझ बन गयी है। मुझे समस्त जगतीतल में तुम्हीं एक सत्पात्र दिखे हो। मुझे निराश न करो।'

आचार्य मधुसूदन ने निस्संकोच भाव से उस शिला को ग्रहण कर लिया और ग्रहण करके दूसरे क्षण उन्होंने गंगा की निर्मल धारा में विसर्जित कर दिया। पर आश्चर्य की बात यह कि गोरखनाथ ने इसे अपमान नहीं माना। बल्कि ठीक उल्टे इसे चौगुना सम्मान मान करके आनन्द-विगलित होकर उन्होंने यह आशीष दी—'वत्स, इससे बढ़कर सुन्दर उपयोग तुम्हारे सिवा कोई सोच ही नहीं सकता था। मैं स्वयं ऐसे उपयोग की कल्पना नहीं कर सकता था। तुम्हारा यह आदर्श न जाने कितने दूसरों को भी दाता भिखारी बना देगा, मैं नहीं बता सकता।'

यह कहानी मुझे भारत के जीवन-दर्शन का सब से बड़ा सत्य लगता है और जब कभी किसी भी परस्पर आदान-प्रदान की बात आती है तो मैं इस कहानी को बरबस याद कर लेता हूँ। आज भारत के विभिन्न राज्यों के बीच एक-दूसरे से बिछुड़ने की, एक-दूसरे से अलग रहकर मनोराज्य खड़ा करने की कल्पनाएँ बहुत जोर मार रही हैं और यह यहाँ के इतिहास के लिए नयी चीज नहीं है। मध्ययुग का इतिहास भी इसी करुणा से परिपूरित है। हाँ, अन्तर इतना अवश्य है और वह अन्तर और भी शोचनीय है कि मध्य युग में बिलगाव के केन्द्र व्यक्ति थे और इने-गिने व्यक्तियों की और उनके परिवारों की आन की रक्षा में देश के विभिन्न अंग आपस में कट मरे, पर आज ऐसे बिलगाव की भावना व्यक्ति-समूहों में उठायी जा रही है, क्योंकि ये समूह निस्पन्द हैं। मैं सोचता हूँ कि रवि ठाकुर के शब्दों में कोई कमल के इन शतदलों को कमल में असंलग्न होकर निहारने की कोशिश क्यों नहीं करता। क्या एक-एक दल नोचकर तश्तरी में बिछा देने से ही उसकी सत्ता प्रमाणित की जा सकती है।

विन्ध्य की विशेषताएँ भारत का केवल कलवार बनने के लिए नहीं बल्कि उसका हृदय बनने के लिए मुझे अधिक उपयुक्त लगीं, क्योंकि आखिर समस्त शरीर के रक्त का आकर्षण-विकर्षण ही तो हृदय का काम है। भौगोलिक स्थिति से और ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह प्रदेश उत्तर और दक्षिण, पूर्व

और पश्चिम भारत का सन्धि-स्थल रहा है। आज एक सुगठित और चेतन इकाई के रूप में यह प्रदेश नयी शक्ति लेकर उठ रहा है, तो केवल यही कामना है कि इस शक्ति का विनियोग गलत रास्ते मे न हो। मैं जो कुछ देख-सुन सका हूँ उससे मुझे बस यही लालसा हुई है कि वसुमती के सोये हुए ये शक्ति-स्रोत समस्त भू-मण्डल में रस फैला सकें। लोगों से अगस्त्यवाली कहानी के बारे में कई बार सुना है और उसमें लोगों की व्याथा भी कई बार अनुभव करने को मिली है, पर मैं विन्ध्य के उस महान् विनय को अवनति मानने के लिए कभी तैयार नहीं हूँ, उसी प्रकार जिस प्रकार कि तुलसी की दास्य-भक्ति को मनुष्य की कायरता मानने के लिए तैयार नहीं हुआ जा सकता है। शक्तिशाली की विनय कायरता नहीं होती और हिमालय अपनी ऊँचाई मे बड़ा है, सागर अपनी गहराई में बड़ा है, तो विन्ध्य अपने विनय के विस्तार में बड़ा है, ऐसा विस्तार जो संस्कृति के सभी कीर्ति-स्तम्भों को व्याप्त करके फैला हो। मेखला की कड़ियों मे उलझने मे जो आस्वाद मुझे मिला है, वह मुकुट के दर्शन से प्राप्त चकाचौंध से या नूपुर के लुभावने आकर्षण से कम है या वेशी है, यह तुलना की ही नहीं जा सकती, क्योंकि वह एकदम अलग है, जैसे दाख, मिश्री और मधु की मिठास एकदम अलग होती है।

विन्ध्य की धरती का वरदान

कई बार सोचने की कोशिश की है कि आखिर भारत के सांस्कृतिक सामञ्जस्य मे किस अंश तक विन्ध्य का योग है, तो लगा है कि इस अनन्त संस्कृति-महासागर मे मिलने के लिए नर्मदा और सोन की ही नहीं, गहरी विनय और गहरी आस्था की धाराएँ भी इसी प्रदेश से निसृत हुई हैं। जिन चार संस्कृतियों का योग इस देश मे हुआ, उनमें एक है कोल संस्कृति । उसी को निषाद संस्कृति भी कह सकते हैं। इस कोल संस्कृति से ही हिमालय के शिखरों-जैसे गर्वीले आर्यों को विनय और एकान्त साधना की शिक्षा मिली और उनके अभ्युत्थान मे यह सब से पहले सहायक बनी। कोलों या निषादों के प्रतिमान के रूप मे निषादराज गुह का चरित्र रामायण में मिलता है। विनय, सहज प्रेम और एक निष्ठा, जिसमे उत्साह और आत्मविश्वास और अनुरोध का अपार बल हो, ऐसी एक प्रतिमा है निषादराज गुह की और वह प्रतिमा विन्ध्य प्रदेश की साकार शक्ति की प्रतिमा है। वैसे कुछ लोग अरण्य को पलायन के लिए शरण या निलय मानते हैं पर असल मे अरण्य का जीवन मनुष्य का अपने स्वरूप मे समाधान प्राप्त करने का जीवन है और अरण्यवासियों को प्राणिपूजक कहनेवाली दम्भी सभ्यता यह भूल जाती है कि उनका पूजन निष्प्राण का नहीं, सप्राण का है और वह पूजन भी निष्प्राण नहीं सप्राण है। पूजा का यह जीवित रूप ही मनुष्य को अपने आराध्य के प्रति सुन्दरतम रूप प्रस्तुत करने की प्रेरणा भर सका है और इसी का परिणाम है—नृत्य, सगीत, शिल्प यह स्मरण करने की बात है कि यहाँ की कला-परम्परा मे गति की प्रत्येक क्षेत्र मे जो उत्कर्ष प्राप्त है, वह उस मूल प्राणवान् पूजन-भावना का विकसित रूप है।

मैं जब आरम्भ मे यहाँ आया, तो मुझे दैनिक व्यवहार मे जो एक अप्रत्याशित मृदुलता देखने मे आयी, तो मैंने उसे सामन्तवाद का अवशेष माना, पर बहुत दिनो रह जाने पर यह समझ मे आया कि यह किसी वाद का प्रभाव नहीं, यहाँ की धरती का प्रभाव है और शायद हिन्दी मे विनय के सम्बोधन या विनयवाचक क्रियापद कोल भाषाओ के प्रभाव के कारण प्रभावित हैं; क्योकि सब से अधिक घनिष्ठ सम्पर्क इस देश का केन्द्रीय भाषा से रहा है

और प्रत्येक युग मे साहित्य को मार्गनिर्देश देने में यहाँ की संस्कृति अपना नैपथ्य कार्य करती आयी है। विन्ध्य की टेकड़ियों पर विश्राम लेते हुए मेघदूत का सन्देशवहन मानो युगो-युगों तक भारती के विरह के आतप में विन्ध्य की ओर से दिये गये स्निग्ध आश्वासन की घनी छाँह है, जहाँ न केवल पृथ्वी की ज्येष्ठतम सन्तान की पुरातनतम स्मृतियों की शिलाओं को फोडकर निकलती हुई रसवन्ती धाराओं की परितृप्ति है, रात-रात त्वरित गति से थिरकती-थिरकती विजडित श्यामल पिण्डलियों के हीरकमय स्वेद-कणों की निश्चल झलक है, रूपगर्विताओं की अंग-भंगिमा से पागल मुकुरों से होड लेनेवाली सरसी में निशाकर का मदिर विलास है और राम और सीता—जैसे आदर्श दम्पति के स्नेह से पुलकित मही के उर की एक मीठी-सी सिहरन है और वन-देवियों के द्वारा क्षण-क्षण प्रक्षालित क्षितिज-रेखाओं के बीच सधे हुए निर्मल चटकीले आकाश की अपूर्व नीलिमा का शारदीय प्रसाद है, जिसे पाकर तमसा के तीर पर भी शारदा कूकने के लिए विवश हो जाती है, स्फटिकशिला पर तुलसी की कल्पना ठगी-सी रह जाती है, पवन-गति से चलने वाले सन्देशवाहक मेघदूत के भी नयन उलझ-से जाते हैं, शिव और शक्ति की कन्दर्प-लीला अपने-आप विहसित हो जाती है, इतनी अधिक कि एक सहस्र रजनी-चरित कौन कहे, असंख्य रजनी-चरित या यो कहूँ कि केवल अखण्ड रजनीचरित की अद्भुत सृष्टि करानेवाली बृहत्कथा को सूत्रपात करने लगती है, वह बृहत्कथा भी ऐसे रसीले ढंग से एक-दूसरे से गुम्फित कि किसको परिवेष्टित करके वह कथा चल रही है, यह याद करने की जरूरत नहीं रह जाती, कथा मे ही मन भूल जाता है।

यह तो एक पक्ष हुआ; पर यहाँ नल-दमयन्ती उपाख्यान भी है, दमयन्ती को तीन डगर बताकर नल का छल भी है, उदयन का वीण-वादन है, तो वासवदत्ता का हरण भी है। यक्ष-यक्षिणियो के उल्लसित जीवन के यदि चित्र हैं तो विद्याधरो के शाप की अकह कहानी भी है। सौन्दर्य का अथकित नर्तन है, तो शौर्य का उद्दाम आवर्तन भी है। यहीं तो एक ओर पाण्डवो को शरण दें, दूसरी ओर कृष्ण के मुकुट-चिह्न को चरणांकित बनायें, यह प्रबल अभिमान भी है। निषादराज गुह का प्रणिपात है, तो भारशिवों और वाकाटको का अप्रतिहत पराक्रम भी है, जिसने एक सत्ता को एकदम आत्मसात् कर लिया। इरावती और सागरिका के विह्वल प्रणय की स्मृति दिलानेवाली नृत्य-मुद्राएँ हैं, तो छप्पन-छप्पन युद्धों मे जयमाल पहननेवाली छत्रसाल की शौर्य-लक्ष्मी का गर्व भी है, मुट्ठी-भर अनुचरो के बल पर दसगुनी अरि-संख्या को परास्त करनेवाली कुन्दन कुँवरि की तेज आग भी है। जहाँ एक ओर जीवन का बहुरंगा उल्लास है, वहाँ दूसरी ओर आन पर मरने का मान भी है। आकाशचुम्बी

सरई के वृक्ष का अविरल फैलाव है, तो कहीं चट्टानों के रन्ध्रों में हरियाली उमगानेवाली सदाजीवन्ती औषधियों का विनम्र विस्तार भी है। जहाँ मृगछौनों के भयभीत लोचनों से वामलोचनाओं के नयनों की नाप-जोख के सहज प्रमाण हैं, वहाँ बादल का हृदय दहलाने वाला सिंहों का अमन्द गर्जन भी है।

विन्ध्य के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालते समय स्पष्ट हो जाता है कि जिन-जिन लोगों की प्रभुता यहाँ कुछ सृष्टि करके गयी है, वे स्वयं आरम्भ में प्रभुताहीन थे और उनको प्रभुता भी इसी धरती से मिली थी। राम को लीजिए, अगस्त्य को लीजिए, रेवा के जल को हिंडोलने वाले सहस्रबाहु को लीजिए, वीरों की महासभा में भीष्म को चुनौती देने का अरमान रखनेवाले शिशुपाल को लीजिए; मगध, कौशल और अवन्ती का स्नेह, नीति, कला और शौर्य से मानमर्दन करनेवाले वत्सराज उदयन को लीजिए, विदिशा के द्वारा अन्धकार युग में दिशा देनेवाले दुर्दान्त भारशिवों को लीजिए, गुप्तों की कन्या लेकर देश की एकता के लिए सन्धि करनेवाले विन्ध्य-शक्ति प्रवरसेन और रुद्रसेन-जैसे वाकाटकों को लीजिए, शशांक के मित्र और हर्ष के प्रतिद्वन्द्वी देवगुप्त को लीजिए, काशी से आकर कर्णवती के तट पर गहरवारों की कीर्ति-कौमुदी बिखरानेवाले चन्देलों को लीजिए, कार्तवीर्यों के पराक्रम का पुनरुज्जीवन करानेवाले कलचुरियों को लीजिए या बिन्दु-बिन्दु शोणित से दुर्ग बसानेवाले बुन्देलों को लीजिए या दूर अन्हलवाड़ा से आकर अविशृङ्खल शक्तियों को पराभूत करनेवाले साहित्य और कला-प्रेमी बाघेलों को लीजिए, सर्वत्र यह देखने को मिलेगा कि बाहर से त्रस्त शक्तियाँ आयी और उन्हें यहाँ जीवन मिल गया। इसी से शक्ति का अवतार इसके शिखर पर माना गया और आज भी विन्ध्यवासिनी इसके प्रतीक के रूप में अवस्थित हैं।

शौर्य और सौन्दर्य की सम्मिलित रागिनी के अनुगुंजन में हम अलग-अलग दो धाराएँ देख सकते हैं, कर्म के सतत जागरूक उत्साह की और भावमय चिन्तन की गहन गम्भीरता की। वह चिन्तन भी शक्ति में शिव को अधिष्ठित करने के लिए प्रेरित हुआ है, जबकि शौर्य उस शक्ति को प्रस्फुरित करने के लिए नियोजित हुआ है। तुलसी की अपार विनयशीलता और अगाध भक्ति जिन उपादानों से रची गयी हैं, वे उपादान यहाँ की रज-रज में, तृण-तृण में और रोम-रोम में अभिव्याप्त हैं। इसी प्रकार जगनिक की वीरगाथा जिसको पाकर फड़क उठी है, वह मन्त्र भी यहीं के अवधूत वीरों ने जगाया है। नचना-कुठरा में चतुर्मुखी शिव के चार धीर, सुन्दर, सौम्य और अन्तर्लीन रूप यहाँ की समन्वय शक्ति और अन्तर्मुखीनता का परिचय देते हैं। इसी प्रकार गुर्गी के हर-गौरी तथा खजुराहो के विष्णु जो कला छिटकाते हैं, वह इस धरती के

पाषाण पर सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव के लिए कोमल अन्तस्तल से ही उसने साकार रूप पाया है। वह अन्तस्तल जो विरह-तृषित कलस्विनियों के अश्रुजलों से सिक्त है, जो केहरियों के नख मे लगे हुए रक्त में अंकित है, जो पृथ्वी के गौरव हिमालय की शिशुता की किलकारियों की स्मृति से प्रमुदित है और जो अपने ही समान जूझनेवाली अपनी पड़ोसी प्रकृति और प्रकृति से वर-प्राप्त वन-जातियो की विश्रान्ति से एकदम निस्पन्दित है।

वह दूसरी बात है कि आज दिन धरती के उस वरदान की सुधि खो गयी हो और गरदनतोड़ घुड़दौड़ में शान्ति की उस प्रेरणा के लिए कभी मन में अवकाश न मिलता हो, पर सन्तप्त स्थिति मे जिस मानसिक ज्वर की स्थिति में और जिस अकुलाहट मे देश अन्धाधुन्ध आगे बढ़ने की कोशिश कर रहा है, उसमें उस वरदान की, संयम की, शील की तथा ओट की आवश्यकता है, जिसकी ओर महान् विजेता महाराज छत्रसाल ने अपने इस छन्द में संकेत किया है:

सुजसु सो न भूषन विचार सो न मन्त्री त्यों
साहस सो सूर कहूँ ज्योतिषी न पौनसों।
संयम सों औषध न विद्या सों अटूट धन,
नेह सो न बन्धु और दया सो पुन्य कौन सो।
कहैं छत्रसाल कहूँ सील सो न जीतवान,
आलस सो बैरी नाहि मीठो कहूँ नौन सों।
सोक कैसी चोट है न भक्ति कैसी ओट कहूँ,
राम सो न जाप और तप है न मौन सों।

अमरकण्टक की सालती स्मृति

बरसों पहले मेघदूत पढ़ा था और तब नर्मदा को अपनी गोदी में खिलानेवाले और दुलारकर झरनों के पलनों में झुलानेवाले आम्रकूट के बारे में मन में एक बड़ी तीव्र उत्कण्ठा जगी थी। यहाँ आने पर जब पता चला कि आज उसी का नाम अमरकण्टक है तो अज्ञेय जी की वह बात मन में चुभने लगी कि कभी-कभी कुछ नाम भी बड़े मर्मस्पर्शी होते हैं, जैसे यह अमरकण्टक। जाने कितने दिनों से मुझे यह नाम सालता रहा। इसके बारे में बहुत सारा मन्त्रवत् प्रचार-कार्य करने के अनन्तर और पूरी पुस्तिका छपवाने के अनन्तर, पूरी मित्रमण्डली के साथ गरमियों में एक रोज दो-तीन दिनों के लिए वहाँ जा निकला। कितना बड़ा जत्था साथ में था। और उनके साथ कितनी मुसीबतें हुईं, कितनी उलझनें आयीं, कितनी खीझ हुई और कितनी बार कितनी बातों के लिए बैठकर कान पकड़ना पड़ा, इसकी अलग कहानी है। शायद वह सब बायरन के इन शब्दों को कि 'इस संसार का कोई सुख-दुःख से अविलग नहीं रह सकता' चरितार्थ करने के लिए हुआ हो।

अमरकण्टक हम लोग शहडोल से कार में चले थे और रास्ते में प्रातः आठ बजे लगभग जुहिला के तट पर राजेन्द्र-ग्राम में राजेन्द्र-कुटीर के ठीक नीचे पानी में सिर उठाये पत्थर को ढोकों पर बैठकर कुछ देर तक जलक्रीडा करते रहे। मुझे यह जगह बहुत भायी। चारों ओर पहाड़ियों का दुर्ग, जुहिला का मीठा पानी और निर्मल नीर में रंगबिरंगे उपलों का संगीत और उस संगीत से समय के शिलीकृत पदचिह्नों को खोजने की प्रेरणा, बालू के प्रत्येक कण में से निकलती हुई धरती की ज्येष्ठतम सन्तान विन्ध्य के इतिहास की स्वर में लहरी की गूंज और करमा नृत्य की थकान, अँगड़ाती हुई साँवली पिण्डलियों की रग-रग में नूतन रस का संचार करनेवाली लहरियों की कलरागिनी का आलाप, इन सब में मनुष्य यदि अपने को घण्टे-दो घण्टे भी अर्पण कर दे तो वह युगों का खोया विश्वास पुनः प्राप्त कर सकता है, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं। जुहिला की यह उषा नर्मदा के तरंगित यौवन के मध्याह्न की और सोन की उद्वेग-भरी सन्ध्या की नवल भूमिका थी।

चढी दोपहरी मे सरई के बनो की बीच में ऊपर चढ़ते हुए हम लोग अमरकण्टक के चरणों मे पाँवड़े बिछाये नर्मदा के निकुंज के किनारे जा पहुँचे। ऊपर डाक बगले में टिकने की व्यवस्था करनेवाले ओवरसियर नाम के जीव-धारी दुपहरी की मीठी नींद ले रहे थे। इसलिए बिस्तर वगैरह तो सीधे हो गये, पर प्यास बुझाने के लिए घण्टों प्रतीक्षा करनी पड़ी, तब जाकर साथ के चौथी श्रेणी के अफसरों की मेहरबानी से दो घड़ा जल आया और नर्मदा माई की जय की बदौलत जीनेवाले हलवाइयों के यहाँ से शुद्ध चीनी की मिठाइयों के सहारे पानी गले के नीचे आकुलता से पहुँचाया गया।

सन्ध्या समय हम लोग सदलबल नर्मदा कुण्ड मे तन-मन की तपन बुझाने उतरे। कुण्ड के बीच मे दो-तीन मन्दिर हैं और उनमे शिव प्रतिष्ठापित है और कहा यह जाता है कि यह कुण्ड ही नर्मदा का आदि स्रोत है, जिसके अन्दर से नर्मदा निकलकर कुछ दूर तक लुप्त होकर पुनः नियमित रूप से बहने लगती है। कुण्ड के पार्श्व मे अनेक मन्दिर हैं, जो प्रायः सभी कलचुरि राजाओं के बाद के बनवाये हुए हैं। कुछ दूर पर पातालेश्वर मन्दिर कलचुरि राजा कर्णदेव का बनवाया हुआ है, जो स्थापत्य मे खजुराहो के मन्दिरों के समकक्ष है। जिस समय हम लोग स्नान करके निकले, उसी समय यह विचार हुआ कि यथार्थ और यथार्थ के चित्र मे कितना अन्तर होता है। यह सचमुच बड़ी विस्मयकारिणी बात है। कुण्ड के इन मन्दिरों का जितना सुन्दर चित्र लगता है, उतना उनका यथार्थ नहीं और वनों का, घाटियों का और पूरे परिसर का जो मनोरम चित्र आँखों में झूलता है, वह चित्र में नहीं उतर पाता। इसे मनुष्य की शक्ति की पराजय कहें या प्रकृति की लज्जा का निदर्शन, कुछ समझ मे नहीं आता। बहरहाल, पहले एक जगह बैठकर यह विचार-विमर्श होने लगा कि अब क्या कार्यक्रम बनाया जाय। पर विचार-विमर्श इतना गहरा हुआ कि साँझ हो आयी और साथ मे जो हम लोग भर्तृहरि की शिला बाँधकर चले थे, उसके कारण चाँदनी रात मे दूर निकलकर घूमने की और दुरन्त विरह तथा विफल सौन्दर्य को अपने हृदय मे ग्रहण करने की सारी उमगें स्थगित करनी पड़ी और डाक बंगले के सामने कुरसी मेज लगाकर अनेक प्रकार के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा अनुशयन मे अवसर गँवाकर पहली रात दुश्चिन्ता मे काटी गयी। रात मे और सभी साथ के लोगों के सो जाने पर एकाएक मैं चुपके से शय्या से उठा और वन की ओर जा निकला, वन जो बिल्कुल लगा हुआ था और जहाँ वनराज के दर्शन की सम्भावना प्रति क्षण सन्निहित थी। विशेष रूप से ऐसी मृदुल चाँदनी में शय्या छोड़ते समय मुझे एक साथ जाने कितनी बातें याद आयीं। याद आया कि कालीदास का मेघदूत अपनी यात्रा में पहला डेरा यहीं डालने आता होगा, याद आया कि वह

प्रतिवर्ष यहीं से हिमालय की गोद में बसी हुई अलका में इस संस्कृति की उस पुरातन रागिनी का सन्देश वहन करता होगा जो नर्मदा की शिलाओं की सहचरी है, जो दीप्ति और गरिमा के लिए दावा न करे पर जो स्थिर स्निग्धता और सहज सुन्दरता से हिमालय के हिम-मुकुट को एक बार पिघला देने की क्षमता रखती हो, जिसके कण-कण में बसनेवाले शिव हिमालय के परमोच्च शिखर पर सादर प्रतिष्ठापित किये गये हों और जो देश के पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण जोड़नेवाली प्रकृति की सिद्ध मेखला रही है। फिर याद आया कि यहीं सोन और नर्मदा के विवाह की बारात सजी थी और सजकर भी बिना भाँवर पड़े लौट पड़ी थी। जाने तब से कितने निर्झर कितने गिरि, वन-उपवन और कितनी सरि-सरिताएँ मनावन करने में लगी होंगी; पर एक बार के बिछुड़े अभी तक मिल नहीं पाये। फिर याद आया कि यह बिछुड़न प्रत्येक मनुष्य के जीवन में है, प्रत्येक मनुष्य कभी-न-कभी इस बिछुड़न का अनुभव करता है और इसके साथ-साथ यह भी अनुभव करता है कि मिलन की आशा कैसी मादक थी और इसी में वह मिलन का वास्तविक सुख पा जाता है, क्योंकि शायद अप्राप्त मिलन ही सुख है, प्राप्त नहीं। याद आया कि कीट्स ने यही गाया है कि श्रुत रागिनी मधुर है, तो जो रागिनी सुनी न गयी, गायी न गयी उसकी गूँज जो ध्वनि निकलने के पहले उठ आयी है, वह कहीं अधिक मधुर होती है।' यह बिछुड़न चाहे मनुष्य के श्रेय और प्रेय के बीच में हो, चाहे साध्य और साधन के बीच में हो, चाहे विषय और विषयी के बीच में हो, मन और आत्मा के बीच में हो, आत्मा और विश्वात्मा के बीच में हो या गिरा और नयन के बीच में हो, पर प्रत्येक को इसका अनुभव होता है। और यह अनुभव उसे बराबर पवित्र बनाता है ऊँचे उठाता है, हताश नहीं करता और नीचे नहीं गिराता। शायद बिछुड़ने की इस जलन का ही आस्वाद लेने के लिए मेघ यहाँ ठहरा हो।

मन इन सुधियों में तिरता-तिरता फिर जब किनारे लगा तो मैंने देखा कि चाँदनी डूबना चाहती है और भोर का धुँधला प्रकाश जैसे अनधिकृत प्रवेश पाना चाहता हो और मैं चुपचाप आकर नींद का अभिनय करने लगा। अभिनय देर तक यों ही नहीं चल पाता, पर मेरे मित्र उर्मिला को किसी को भ्रम न हो. मेरी लायक भाभी के सुयोग्य पति को प्यास लगी और वे पानी के लिए इधर-उधर तलाश करते मेरे पास आये और तब सामूहिक जागरण हो गया। कुछ देर तब भी लगी और मोटर में सब को पधराकर हम लोग कपिलधारा के लिए बहुत ही राजनैतिक आश्वासन आदि के अनन्तर रवाना हो सके।

कपिलधारा नर्मदा का सर्वप्रथम प्रपात है लगभग सौ फीट ऊँचा और

आम तौर से बरसात के अलावा शेष महीनों मे दो धाराओं मे विभाजित। प्रपात के नीचे कुण्ड मे जाने के लिए घुमावदार रास्ता है और प्रपात के ठीक नीचे नर्मदा की शक्ति का पात वहन करने के लिए स्नानार्थियों की अपार भीड़ लगी रहती है। उसमे भी विशेष रूप से एक क्षीणतम धारा के नीचे यह परीक्षा की जाती है कि जिसके ऊपर वह धारा न पड़े, वह सौ-सौ जनम मे भी तर नही सकता। रास्ता बहुत ही ऊबड़-खाबड़, बड़े-बड़े पत्थरों के ढोंकों पर फिसलनवाला है, पर श्रद्धा और धारा को शिव की भाँति सिर पर ओढने की प्रबल उत्कण्ठा इन बाधाओं को नगण्य कर देती है। कपिलधारा के बाद ही कम गहरा, पर अधिक फैला दूसरा प्रपात दुग्धधारा है और इसका रास्ता अधिक सुकर है। दोनों स्थानों पर हम लोगों ने अत्यन्त परितृप्त होकर स्नान किया। साथ की महिलाओं मे एक तो शरीर के भार से और उस भार से भी अधिक अपार भय के भार से दर्शक-मात्र बनी रही, दूसरी ने किसी प्रकार बहुत हिम्मत दिलाने पर और धर्म के संचय के मोह से कपिलधारा की विषम धार के नीचे दो-तीन मिनट जल की शर-वर्षा सही और तीसरी ने अत्यन्त उछाह और उमगपूर्वक विशुद्ध ग्राम्य उच्छलता के साथ बार-बार बरजने पर भी नर्मदा की सारी शक्ति अपने मे भर लेने की दिलावरी दिखलायी और इन सब से अधिक उन्मुक्त और उन्मोहित भाव से एक अन्य जोड़ी ने फोटो खिचवाते-खिचवाते स्नान किया और इस जोड़ी की सहज प्रेम-साधना की हम सब ने नतमस्तक होकर वन्दना की।

दुपहरी मे तीन चूल्हे दगे और करीब-करीब साँझ तक चपरासियो के साथ नीचे-ऊपर, कभी आलू के लिए, कभी पानी के लिए, कभी किसी दूसरी छोटी-मोटी चीज के लिए चढते-उतरते जब समस्त सचित आनन्द विचारा इस मँहगे मूल्य के लिए पछताने लगा, तब जाकर दो कौर सुअन्न कहने के लिए मृदु, पर तपती हुई तिपहरिया में गले के नीचे गया। अब शाम को फिर वही 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' पट्राग शुरू हुआ। कोई ईर घाट, कोई वीर घाट, विशेष रूप से महिला-वर्ग मानों अपने मत के ऊपर आज के साहित्यकारों की भाँति अडिग था और इसके कारण मित्रो मे से भी कुछ झल्लाये, कुछ उखड़े, कुछ उदास हुए और अन्त मे सब तितर-बितर हुए। तितर-बितर होते ही मैंने सन्तोष की साँस ली और चुपचाप नर्मदा माई की अपने साथ की जीवन्त प्रतिमाओं को नमस्कार करते हुए हम लोग माई की बगिया की तरफ चले। माई की बगिया, कहा यह जाता है कि सोन और नर्मदा के पूर्व-राग की लीला-भूमि है और गुलबकावली के फूलों की ससार भर में एकमात्र बगिया है। गुलबकावली के फूल शायद वर्षा मे आते हैं, इसलिए फूलों की गन्ध तो नाक तक नही पहुँची। हाँ, एक छोटा-सा कुण्ड एक पेड़ के नीचे जरूर देखने को मिला, के बारे में वही

रहनेवाले बाबा ने बतलाया कि यह नर्मदा और सोन की परस्पर प्रेम-प्रतिज्ञाओं के समय का उत्सर्ग किया हुआ अमिय नीर है। बाबा से बड़ी देर तक छनती रही, जंगल के बारे में, शेर के बारे में, सन्त-महात्माओं के बारे में, गुद बाबा के बारे में और बाबा की उम्र के बारे में। कुल ले-देकर बहुत गहन और गूढ चर्चा थी, जिसका बहुत ही कम अंश हम लोग अपने पल्ले पा सके और इस समय तक तो सिवाय इसके कि बाबा की उम्र ज्यादा थी, पर इतनी ज्यादा नहीं थी जितनी कि वे बतलाते थे, कुछ भी याद नहीं रहा है। हाँ, यह याद जरूर है कि उसी समय जंगल की पगडण्डी से भील यात्रियों का एक दल प्राकृतिक वेश-भूषा से सुसज्जित वहाँ आया और उससे कुछ देर तक बातचीत करने का बाँका अवसर प्राप्त हुआ। वैसे हमारे साथ एक मित्र ऐसे थे जो लोक-जीवन से अधिक लोकगीतों के संग्रही थे और कोई भूखा हो, प्यासा हो, मरता हो जीता हो, वह यह समझते थे कि हर-एक वनवासी और हर-एक ग्रामवासी चौबीस घण्टे बाबू लोगों को गाना सुनाने के लिए बना है और बेचारे बारह-चौदह कोस चलकर थके हुए कुछ कच्चा-पक्का सेंकने के लिए तैयारी कर रहे थे कि इतने में मेरे मित्र ने अनुरोध किया कि गाना सुनाओ। खैर उन्होंने तो नहीं, लेकिन उनके साथ के दो-चार बच्चों ने इसी बीच में भूख के कारण जो विकट रागिनी छेड़ी और उनके अभिभावकों ने भी आग जलाना छोड़कर उनको मारने-पीटने और रागिनी को और तार-स्वर देने में सहायता पहुँचायी तो हमारे मित्र ने भी कान मूँदा और कहा कि अब चलना चाहिए। अगत्या हम लोग मुड़े। मुड़ते-मुड़ते सोचा कि कविता तो मैंने भी लिख दी है, लेकिन माई की बगिया जैसी होनी चाहिए, वैसी शायद रही नहीं। पता नहीं कभी भी एकड़ में थी। आज कुल ले-देकर शायद एक बिस्वा जमीन, जो शायद मेरे कमरे से दो-चार हाथ अधिक हो, घेरकर यह बगिया है। पाँच-छह गुलबकावली के पेड़ हैं। एक नाद सरीखा कुण्ड है और बाबा की कुटिया है। खैर, मूर्ति वगैरह तो प्रलय से पहले की है, क्योंकि कहा यह जाता है कि प्रलय में मार्कण्डेय महाराज यहीं पर तिराये थे और अब तक उनका आश्रम मौजूद है। पहले यहाँ दलदल के होने के कारण शायद वह बेहद फूलती रही और जितना ही वह फूलती रही, उतना ही लोग उसे पाने की कोशिश करते रहे और दलदल में फँसकर मरते रहे। और मनुष्य की अन्य विफलताओं के समान ही यह विफलता भी इस स्थान को मोहक रूप देने में कृतकार्य हुई। पर आज सब सपाट है। स्मृति केवल नाम में सिमटी हुई है। कई जगह अब भी दलदल के अवशेष सूखे पड़े थे और इतना अवश्य लगता था कि कोई धारा इसके नीचे से गयी है और कुण्ड तक जुड़ी हुई है। यह भी लगता था कि प्रकृति के किसी आकस्मिक कोप ने इस उपवन के फैलाव को उजाड़ दिया है, उसी प्रकार जिस प्रकार आज के

बुद्धिवादी युग के व्यामोह ने धार्मिक भावनाओं के साथ संलग्न लोक की गहरी और स्नेहभरी मानवीय आस्थाओं को उच्छिन्न कर दिया है और जिस प्रकार नगर के परिष्कार ने गाँव को उजाड़ बना दिया है।

उस दिन रात में फिर उखड़ी हुई वीणा के तार ठीक करने की कोशिश जो हुई तो बजाय स्वर मिलने के तार और झनझनाने लगे और जितना ही हमने सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से जयदेव और विद्यापति का मन्त्र एक करके प्रयोग किया, उतना ही अधिक मान का वितान भी बढ़ने लगा और अन्त में कालिदास से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक एक-एक शृङ्गारी कवि का तर्पण करते हुए मैंने जब दर्शन-शास्त्र पर एकदम अष्टम स्वर में व्याख्यान देना प्रारम्भ किया, तब जाकर देवियाँ शान्त हुईं और हम सब ने एक-एक करके तीन बार कर्ण स्पर्शपूर्वक यह प्रतिज्ञा की कि 'बहुवचने ह्रल्येति' पाणिनि ने बहुत सही कहा है और जैसे अकेले का आनन्द घर नहीं, वैसे दुकेले का आनन्द बाहर नहीं। अतएव किसी भी दशा में किसी भी प्रकार आज से, इस क्षण से जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त पुनः हम लोगों से इस वाह्यानन्द साधना में द्वैतवाद ग्रहण न होगा। आखिर में शंकराचार्य ने कोई भाँग थोड़े ही पी थी कि अद्वैतवाद का प्रचार किया था। दूर क्यों जायें, इसी अमरकण्टक के धनी-मानी सेठ शोणभद्र ने भी बुद्धिमानी का काम किया था, नहीं तो बेचारे का सारा सोना अरब समुद्र में चला जाता और जिस शान और गौरव के साथ वह विधुर राजनैतिक नेता की भाँति उत्तर भारत की नदियों की एकीकृत धाराओं में जाकर गंगा में मिलता है और सब के ऊपर अपने प्रवेश की महिमा का रोब जमाता है, वह भला कैसे सम्भव होता। इसलिए मासाना मासोत्तमे मासे आषाढमासे! हम लोगों ने यह संकल्प किया कि जब तक गृहस्थी का जुवा है तब तक घूमने नहीं जायेंगे। जायेंगे भी तो इसका नोटिस नहीं देंगे और घूमकर आयेंगे तो घूमने की डींग नहीं हाँकेंगे। दूसरे शब्दों में संसार के प्राचीन राजनीतिज्ञ शृगाल पण्डित की परिच्छिन्न शब्दावली में—"अब जो जियबों तो बाग न जइबों। बाग जो जइबों तो आम न खइबों। आम जो खइबो तो लोक लोकैया। कबहु न खइबों झाँखर पैयाँ।" अर्थात् साधारण लोगों की बोलचाल की भाषा में किसी समय की बात है कि शृगाल पण्डित हमीं लोगों की तरह से किसी आम्रकूट में जा पहुँचे और वहाँ जो एक आम टपका हुआ धरती पर मिला तो शृगाल पण्डित की रसना ने जोर मारा और आँख मूँदकर उन्होंने ज्यों ही उस आम को अपने मुँह में रखा, त्यों ही आम की गन्ध से आकृष्ट बिच्छू ने वह डंक मारा है कि शृगाल पण्डित कुश लेकर तुरन्त संकल्प पढ़ने बैठ गये—इस आशंका में कि कहीं प्राण पहले न निकल-जायें—"अब जो प्राण रहेंगे तो आम के बाग में नहीं जाऊँगा और अगर कहीं

दुर्भाग्य ने ला पटका भी तो अब आम का फल तो चखना ही नहीं है और फिर कहीं चाण्डाल जिह्वा ने आम के लिए लोभ प्रकट ही किया तो कम-से-कम जमीन पर पड़ा आम देखना ही नहीं, देखना ही नहीं। ऊपर से जो आम गिर रहा हो, उसको मुँह में लोक कर खाना यह शृगाल पण्डित का पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लिए वसीयतनामा है।"

हम लोग भी जब यहाँ आये थे तो इसे अमरकण्टक से अधिक आम्रकूट समझकर आये थे और आम का पेड़ देखने को तो एक-दो मिला; लेकिन दो-तीन दिनों में ही जो सत्संग हुआ और सत्संग के अलावा स्काउट रैली में जो दूसरी चीजें देखने को मिलीं, वे आम्रकूट की वृश्चिका बन गयी। सुना है कि आम की गन्ध बिच्छू के लिए सम्मोहन है, पर स्वयं बिच्छू से भी अधिक उसका प्रभाव साहित्य-शास्त्रियों ने माना है और तभी अनंग की प्रत्यंचा के पंचबाणों में सब से प्रथम स्थान आम को ही मिला है। पर यहाँ तो काल के प्रभाव से आम तो रहा नहीं, कूट है और कूट पीछे की ओर दौड़ चला। कलचुरियों ने कभी इस स्थान को बसाना चाहा था। कबीर के शिष्यों ने इसके विरह-सौन्दर्य में साईं को पाने के लिए जगह ढूँढ़ी थी और आज भी निराकार रूप में वह विरह विहर रहा है।

दूसरे दिन हम लोग सोनमुड़ा देखने गये। देखा, एक ढाल है। ढाल के ऊपर एक छोटा-सा बुलबुला है, जिसमें से कुछ पानी के बुल्ले निकलते रहते हैं और निकल करके उस ढाल के नीचे कहीं विलीन हो जाते हैं, आँखों को कम-से-कम नहीं ही दिखाई पड़ता, पर इसी को कहते हैं सोनमुड़ा, सोन का शीर्ष। सोन वैसे इस पथ पर बहुत दूर तक दिखाई नहीं पड़ता, लोग कहते हैं कि वह रास्ता प्रमाद में भूला या प्रेम के गर्व के उन्माद में भूला; पर आज भी पहली वर्षा हो जाय तो जो एक तन-मन को पागल कर देनेवाला श्यामल प्रसार क्षितिज तक लहराता दिखता है, उसमें योगी का मन भी पागल हो जायेगा। हाँ, यह पगला देनेवाली शोभा बिजली की कौंध नहीं है, दामिनी की तड़पन नहीं है, आधी रात में उठनेवाली कुररी की पुकार नहीं है और क्षण-भर में सागर को हिमालय का रूप देनेवाला पूर्णिमा का रजतमय ज्वार नहीं है; यह स्थिर, अविलक्षण सहज और शाश्वत सौन्दर्य का सम्भार है—जिसमें विस्मय के आनन्द का एक अपूर्व क्षण चाहे न हो, पर इसमें प्रौढ़ हृदय की उस परिपक्व रसानुभूति की प्राप्ति है जो कालिदास के दुष्यन्त या हर्ष के उदयन या बाण के पुण्डरीक की नहीं, बल्कि भवभूति के राम और वह भी उत्तररामचरित के राम की निजी सम्पत्ति है।

तीन दिनों के मधुतिक्तमय प्रवास के अनन्तर हम लोग सन्ध्या समय एक समाधान की विवश समस्वरता में प्रस्थित हुए। रास्ते में अपने-अपने

प्रादेशिक लोकगीतो का परायण हुआ जिसमें रूठी हुई बाघेली महिला को छोडकर प्राय: सब ने भाग लिया। उन महिला और उनके पतिदेव में शहडोल में उतरने पर कैसी ठनी, इसकी कल्पना का आनन्द लेते हुए हम लोगों ने यात्रा का अन्तिम भाग चन्द्रमा की पीली छाया में समाप्त किया।

राष्ट्रपति की छाया

सब से लम्बा दौरा करने का मुझे अवसर तब मिला जब राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का शुभागमन मार्च, १९५३ में विन्ध्य प्रदेश में हुआ। अपने विभागीय कर्तव्य के कारण मुझे टीकमगढ़ से लेकर अमरकण्टक तक उनकी छाया के पीछे अनुधावन करना था और यह अनुधावन बेजोड़ था। तीन दिनों के भीतर लगभग एक हजार मील की दौड़ और वह भी कुछ किराये की गाड़ी, कुछ बस, कुछ जीप के द्वारा कभी भूली नहीं जा सकती, जैसे चन्द्रमा या चन्द्रमा की छाया पकड़ने की कोशिश कोई नाव में बैठा हुआ व्यक्ति करे, ठीक वैसी ही मेरी कोशिश थी और मैंने उनकी वाणी सुनी और उनकी वाणी को अखबारों के द्वारा अपने पत्रकार बन्धुओं के सहयोग से न जाने कितने कोटि-कोटि लोगों तक पहुँचाया, परन्तु मैं उनकी छाया न पकड़ सका और इस दौड़धूप में कुण्डेश्वर प्रपात से लेकर कपिलधारा तक जामनेर, दशार्ण (धसान), केन, सतना, टोंस, बीहर, सोन, जुहिला और नर्मदा—इन सभी नदियों को, विन्ध्य की न जाने कितनी गिरि-मालाओं को, कितनी घाटियों को, कितने ऊँचे-नीचे पुलों को और न जाने किन-किन कुसुमित काननों को पार करना पड़ा। कुछ देखे, कुछ अनदेखे, कहीं मुँह धोने को मिला, कहीं सिर्फ पानी पीने को मिला, कहीं मोटर ढकेलने में श्रमदान-यज्ञ करना पड़ा, कहीं ड्राइवर के अनुरोध से पतली अँगुलियों के दुर्भाग्य के कारण मोटर के इंजन में आलोडन-विलोडन भी करना पड़ा। कहीं सैकड़ों मील तक आगे जानेवाली रुपहली चमकदार कारों की धूल भी खानी पड़ी और इन सब के ऊपर चैत की चाँदनी में चुराते हुए अनजान में न जाने कितनी सुधा-बिन्दु भी गले के नीचे चली गयी होंगी, नहीं जानता। यह सही है कि भर-आँख देखने का अवसर कहीं कुछ भी न मिला, लेकिन जिसे लोग विहंगम दृष्टि कहते हैं, उसका एक अद्भुत उदाहरण जरूर सामने पेश हुआ। आज जब मैं उन स्मृतियों को आकलित करने बैठा हूँ तो बहुत कोशिश करने पर भी टीकमगढ़ के तालाब के साथ जतारा का तालाब, जुहिला के साथ धसान और केन के पुल के साथ देवलोक का पुल सब गड्डमगड्ड हो जाता है। जैसे मेरी आँखों ने कोई भी शोभा चखी न हो, निगल ली हो। हाँ, उस यात्रा से एक

लाभ यह हुआ कि दूरी का बोध हो गया इस प्रदेश के सामान्य लक्षणों का ज्ञान हो गया। वह यह कि पथरीली जमीन पत्थरों से लड़-झगड़कर बहनेवाली नदियों में बड़े-बड़े पत्थर के ढोंके, विरल पत्तोंवाले पेड़ और झंखाड़ धूसर जंगल, क्षण-क्षण पहाड़ियों का चढ़ाव-उतार, लाल रेत और लाल धूलि, हरियाली का नामोनिशान नहीं सिवा नदियों और तालाबों के श्यामल जल-प्रसार में, कोसों बस्ती नहीं, और जगह-जगह लम्बे घूंघट, लम्बी डोर और लम्बी दर्शनवाले खड़े, बिक्री की चीजों में पान सब से अधिक सुलभ, वह पान भी अनेक विशेषताओं से मण्डित, यह दूसरी बात है कि चखने में उसका लवलेश भी न मिले और सामन्त-युग के प्रत्येक व्यवहार में अवशेष। इस दौरे में जो कष्ट हुआ वह तो बहुत-कुछ बिसर चला है, पर मनोरंजक क्षण अब भी बहुत ताजे हैं। कुछ क्रम से शुरू करूँ तो जिन सेठजी की गाड़ी भाड़े पर की गयी थी, उनके प्रतिनिधि का मोटा शरीर और लमहे-लमहे में मोटर बिगड़ जाने पर हम लोगों की खीझ, क्रोध के प्रत्युत्तर में उनका मोटा मौन, ड्राइवर की तेज आवाज जो मोटर की गति की कमी को पूरा करने के लिए उत्सुक थी, चिन्ता और थकान को मिटाने के लिए सहयात्री बन्धुओं द्वारा, जिनमें पत्रकार एवं साहित्यकार वर्ग के लोग ही अधिक थे, प्रस्तुत किये गये लोक-गीतों के श्लील-अश्लील विविध रूप, उन्मुक्त परिहास और रेखागणित की विभिन्न आकृतियों एवं विभिन्न कोणों की सृष्टि करती हुई एक-दूसरे की ओर झुककर हमारी झपकियाँ, उन झपकियों में सिर की टक्कर और फिर एक अट्टहास और सामूहिक जागरण, धसान नदी में भोर होते-होते कालिदास के मेघदूत की तरह प्यास बुझाने की वह ललक, पर साथ ही राष्ट्रपति के आगमन की वेला समीपतर जानकर टीकमगढ़ के सर्किट हाउस की अलका तक उड़कर पहुँचने की अधीरता, और फिर मोटर फेल हो जाने पर अतारा के सुविस्तृत सागर के किनारे चाय-पान में खड़ी दुपहरी में तपन बुझाने की कोशिश और अन्त में ठीक-ठीक दो बजे टीकमगढ़ के तालाब में डुबकी लेकर एक लम्बी साँस—यह यात्रा का प्रथम खण्ड है। टीकमगढ़ में चार या पाँच घण्टे रुकना पड़ा, जिसके बीच मन्त्रियों, अधिकारियों और पत्रकारों से बातचीत करते-करते रात हो चली और सन्ध्या समय आयोजित लोकनृत्योत्सव में मन सतना और रीवा के कार्यक्रम में अटका रहा। खाते-पीते और मेंढकों को तराजू पर बटोरते-बटोरते ग्यारह बजे और टहकती चाँदनी में टीकमगढ़ से फिर उसी फटीचर गाड़ी में हम लोगों ने प्रस्थान किया। कुछ फ्री-थिंकर साहित्यकार वहीं बिछुड़ गये और दो-एक नये फ्री-थिंकर गाड़ी में आ घुसेड़े गये, जिनको यह फ्री-थिंकिंग बहुत मँहगी पड़ी होगी, क्योंकि अब की बार वह गाड़ी नौगाँव से चार मील आगे महाराज छत्रसाल की समाधि तक पहुँचते-पहुँचते एकदम समाधिस्थ हो गयी। शायद उस

जगह का नाम नउआनाला था। रात के लगभग दो बजे रहे होंगे। मेरे और साथी ऊँघ रहे थे, पर मेरी आँखों में नींद नहीं थी। मैं अपने अगले कार्यक्रम की चिन्ता में एकदम उन्मन हो रहा था कि इतने में गाड़ी रुक गयी। फिर धीरे-धीरे एक-दो घण्टे कई युग की भाँति बीते और तब भी मोटर स्टार्ट न हो सकी। मेरे दूसरे साथी भी जग पड़े और सामूहिक श्रमदान-कार्य से मोटर हम लोग ढकेलकर एक मील तक ले चले। मेरे साथियों में एक भूतपूर्व एकाउण्टेण्ट जनरल भी थे और उन्होंने हिसाब लगाया तो इस गति से निरन्तर चलने पर पाँच दिन में रीवा पहुँचने की आशा बँधी।—और पाँच दिन पार होते-होते सरकारी आर्थिक वर्ष भी पार हो जाता था, यह ख्याल करके थोड़ी काल्पनिक साँस मिली क्योंकि वसन्त का आगमन सरकारी दफ्तरों में और स्कूलों-कॉलिजों में ऐसी ज्वराकुल पीड़ा को जन्म देता है कि संस्कृत और हिन्दी कवियों को गाली देने की तबीयत हो उठती है। बहरहाल एक मील चलने का परिणाम यह हुआ कि हम लोग डूब-मरने के लिए भी जो पानी का आसरा नउआनाला में था, वह भी पीछे छूट गया और अब लाली फूटने लगी थी। दूसरी चिन्ताएँ, जो पानी की माँग सब से पहले करती है, उठने लगी और सब लोगों ने राइट-एबाउट टर्न करके फिर एक मील पीछे मार्च किया। मेरे साथ प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया के प्रतिनिधि श्री आचार्य थे जो कि विनोदप्रिय और निश्चिन्त प्राणी हैं। उन्होंने कहा, "असली प्रयोग कैमरे का तो यहाँ है जब कि राष्ट्रपति के स्वागत की उतावली में विन्ध्य प्रदेश के साहित्यकार और पत्रकार श्रमदान-यज्ञ के द्वारा मोटर एक सौ पचास मील तक ढकेलने के लिए उद्यत हैं।" दुर्भाग्यवश कैमरामैन साथ नहीं था, पर एक छोटा कैमरा था और उसने इन बन्धुओं की पृष्ठच्छवि उतारी।

इतने में एक जीप आयी जिसमें एक सितार बजानेवाले एक चपरासी, एक ड्राइवर और जाने मनों सामान था। बहुत प्रेमपूर्ण विनय के अनन्तर मुझे उसमें धूल फाँकने-भर को जगह मिली और मारुत-गति से हम लोग उड़े। भगवान् ने इतनी सुबुद्धि दी कि छतरपुर में सड़क पर मकान लेनेवाले डॉ० हरीराम मिश्र का आतिथ्य छानकर लिया और चाय पीकर छतरपुर से सवार हुए। पर जहाँ हम साठ मील की रफ्तार से भाग रहे थे वहाँ अस्सी मील प्रति घण्टे की रफ्तार से मेरी बदकिस्मती भी दौड़ी चली जा रही थी और क्या मौका उसने चुना कि पन्ना की दूसरी घाटी आते-आते अखण्ड मरुभूमि में गाड़ी एकदम रुक गयी। यह तो मुझे पता नहीं कि उसके किस अवयव में खराबी आयी, पर कम-से-कम तीन घण्टे तक मैंने अपना हाथ काला किया और इस आशा में कि कम-से-कम मुँह काला होने से बच जाय, क्योंकि चार बजे तक न पहुँचने का अर्थ यह था कि सूचना विभाग की सतभतारी नौकरी को तलाक

दूँ या उत्तम श्रेणी की लिखित रोष-भंगिमा का सामना करूँ। ड्राइवर जरा कुछ मस्त मिजाज का आदमी था। वह पुरजा-पुरजा खोलकर नये सिरे से ठीक करने की झंझट से बचना चाहता था, इसलिए पहले तो उसने हाथ डालकर खराबी दूर करने की कोशिश की, बाद में मेरी बंगला चित्रकला की शैलीवाली अँगुलियों को देखकर मुझसे कोशिश करने को कहा। मैं बिच्छू का मन्त्र न जानते हुए भी साँप के बिल में हाथ डालने को विवश हो गया, पर नतीजा यही निकला कि आखिर में ड्राइवर महोदय को करौंदे की छाया में एक घण्टा विश्राम लेकर मोटर के पुरजे-पुरजे के साथ भिड़ना पड़ा और तब गाड़ी ठीक हुई। इस बीच जो प्यास लगी, उसकी बात मैं अधिक क्या बताऊँ, मेरे मितारिया सहयात्री ने रो-गाकर प्यास भुलाने की चेष्टा की, पर विफल रहे। मैंने भी सूखते गले को करौंदे के फूलों को चूसकर तर करना चाहा, पर ओस चाटने-जैसी बात थी। खैर, डेढ़ बजे गाड़ी फिर स्टार्ट हुई, अन्धाधुन्ध सरपट मारते रीवा ठीक चार बजे पहुँची और मैं हाथ-मुँह धोकर सफेदपोश बनने का मौका निकाल सका। बस इतना ही, और ठीक पाँच बजे राजभवन में विधान-सभा के सदस्यों के बीच में राष्ट्रपति की छवि देखने पहुँच गया। वहाँ जो प्रेम-चर्चा प्रारम्भ हुई और व्यक्तिगत छीटाकशी के द्वारा जनसेवा का पवित्र आदर्श सामने रखा जाने लगा तो अजातशत्रु, राजेन्द्र बाबू का भी संयम आकुल हो उठा और भाषा में मृदुलता रहते हुए भी उनका कण्ठ कुछ कठोर हो गया, क्योंकि ऐसे प्रेम-मिलन की कोई अतिथि कैसे आशा करता! इसके बाद वे सार्वजनिक सभा में पहुँचे, जहाँ मुगलों की ऊँचाई नापकर मंच बनाया गया था और मंच पर जाने की अनुमति बहुत कठिनता से विन्ध्य प्रदेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री को मिल सकी। वह भी इसलिए कि वह विन्ध्य प्रदेश की प्रमुख साहित्यिक संस्था की ओर से 'अभिज्ञान' (चिन्हारी) देने गये थे। इस 'अभिज्ञान' के देते समय मुझे कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल की वह चिन्हारी याद आयी, जो दी तो गयी स्मृति के लिए, पर ठीक अवसर पर जो स्मृति कराने के लिए उपस्थित न की जा सकी और करुणविरह के अनन्तर ही पुनः स्मृति कराने में उपयोगी सिद्ध हुई। मुझे लगा कि बहुधन्धी राष्ट्रपति के हाथों में यह भेंट भी कौन जाने कब स्मृति-विस्मृति की आँख-मिचौनी खेलेगी! इस भेंट में भवभूति का एक श्लोक उद्धृत किया गया था जो कि 'उत्तरराम-चरित' में वासन्ती द्वारा राम की दूसरी बार की पंचवटी यात्रा के प्रसंग में कहा गया है :

ददतु तरवः पुष्पैरर्घ्यं फलैश्चमधुश्च्युतः।
स्फुटितकमलामोदप्रायाः प्रवान्तु वनानिलाः॥

विरलकमलं रज्यत्कउठः ववणन्तु शकुन्तयः ।
पुनरिदमय देवो राम. स्वय वनमागतः ।।

मुझे ऐसा लगा कि इस अभिनन्दन मे उनकी दूसरी यात्रा की अभिव्यंजना तो छिपी ही थी, साथ ही-साथ स्वागत के उत्साह में एक व्यंग्य-भरी वेदना भी निहित थी।

इसके बाद मिष्टान्न-भण्डार से लेकर न जाने और कितने अन्य मगठनों ने आदर के समस्त विशेषणों का अपव्यय करके मच के नीचे से ही अभिनन्दन-पत्र भेंट किया और राष्ट्रपति के सैन्य-सचिव इन सभी रंगीन कागजों को सहेजकर रखते रहे। मुझे समझ मे नही आता कि इन अभिनन्दनों का अभिप्राय क्या होता है। इनसे न तो अभिनन्दन प्राप्त होनेवाले को आदर प्राप्त होता है, न अभिनन्दन देनेवाले को। पर लेनेवाला बहुत आभार प्रकट करता है, देनेवाला देकर अपने को गौरवान्वित मानता है। दोनो पक्ष इस कार्य की निष्प्रयोजनता या दूसरे शब्दों मे एक-दूसरे को मूर्ख बनाने की प्रयोजकता भली-भाँति जानता है। पर न देनेवाले को हिचक होती है, न लेनेवाले को इनकार। हाँ, दर्शकों को समय और बुद्धि के ह्रास का दुःख अवश्य होता है। खैर, इतनी चिन्ता भी मैं आज कर रहा हूँ। उस समय तो मैं केवल खजुराहो-दर्शन का छविसग्रह भेंट करने के जुगाड मे इधर-उधर दौड-धूप कर रहा था और साथ ही जल्दी-से-जल्दी नयी ठीक की हुई गाडी मे पत्रकार बन्धुओं को लेकर अमरकण्टक राष्ट्रपति का स्वागत करने के लिए पहुँचने की तैयारी भी। जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, मैं राष्ट्रपति की परछाई पकडने की कोशिश मे बराबर रहा, पर परछाई बराबर मुझसे आगे रही। इस बार भी लोगो को बटोरते-बटोरते इतना विलम्ब हो गया कि हमारे अमरकण्टक पहुँचने के पहले ही राष्ट्रपति वहाँ पधार चुके थे और हम लोगो की मोटर पर सुव्यवस्था करनेवाली पुलिस का प्रतिबन्ध लग चुका था। रास्ते मे मैं कई रात्रि के जागरण का प्रतिकर वसूलने मे लगा रहा। इसलिए कितनी घाटियाँ आयी और कितनी घाटियाँ चली गयी, कितने नाले आये जिनमे किसी में भी फिल्ली डूबने की भी गुजाइश नही थी, मोटर छपकोरी मारती हुई निकल गयी, दो जगह बनराज भी सडक पर आये और वे भी एकदम श्वेत जो विन्ध्य प्रदेश की अपनी निराली निधि हैं और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सामन्तयुगी क्रूर पाश से जिन्हें अभय प्राप्त हो चुका है और निर्बाध गति से अब विचरण करने लगे हैं, अब जगह-जगह उनकी फोटो लेने के लिए उतावली है, उनके शिकार का नाटक करने का उत्साह है, मेरे सहयात्रियों ने इन बनराज के दर्शन के लिए मुझे उठाया। मैंने भी अपने पेशे को सार्थक करने के लिए फोटोग्राफर को जगाने की कोशिश की,

पर वह न जग सके और दोनों बार वनराज शान के साथ निकल गये। भोर होते-होते राजेन्द्र ग्राम के पास जुहिला में मुँह धोने के लिए हम लोग रुके। अब यह स्पष्ट था कि अमरकण्टक समय से पहुँचना सन्दिग्ध था; पर मेरे पत्रकार बन्धुओं को अमरकण्टक साल रहा था और उन्हें बसनिहा का आराम और भोजन बदा नहीं था। गाड़ी खूब गति से आगे बढ़ी और इस गाड़ी का उद्घाटन चूँकि हमीं लोगों ने किया था, इसलिए टीकमगढ़वाली यात्रा के सेठजी के बस के सत्याग्रह का सुख इस बार नहीं था।

यह विन्ध्य प्रदेश का आदिवासी क्षेत्र था और जो उत्साह मैंने नागरिकों में नहीं पाया, वह यहाँ के वनवासियों में मिला। जगह-जगह मंगल-कलश लिये भड़कीले वस्त्रों में आदिवासी महिलाएँ खड़ी थीं और आनन्दविह्वल कण्ठ से गीत गा रही थीं। एक जगह हम लोगों की मोटर देख करके उन्होंने जो अलापना शुरू किया तो हमने मोटर तुरन्त रोकी और उनकी छवि उतारी। उनके गीतों में एक गीत बहुत ही प्रिय लगा, जिसका भाव राम के स्वागत में वनवासियों का आत्म-निवेदन था।

मैं सोचता रहा कि कोल-किरात यही तो हैं, जिन्होंने न जाने कितने युगों पहले निर्वासित राम के स्वागत में पत्तों के दोनों में फल-फूल की प्रेम सहित भेंट अर्पित की थी और उस पर भी यह विनय दिखलायी थी कि 'लेहिन वासन वसन चुराई। इहै हमार परम सेवकाई।' उनके निश्छल और सहज स्नेह को किन थैलियों में भरा जा सकता है, नहीं जानता। पर यह सन्दिग्ध है कि आज के आगन्तुक राम के आगे-पीछे आनेवाली लैस फौज इन अमूल्य भेंटों को संचित कर पायेगी और देहाती हृदयवाले राजेन्द्र बाबू के कर-कमलों तक—कर कमलों से अधिक उनके स्निग्ध हृदय तक—अभिनन्दन पहुँचा पायेगी! वह तो गँवार रश्मियों की तरह इनकी शीतल मोतियों को धरती में ढुलकाने के सिवा कुछ दूसरा कर ही नहीं सकती। पता नहीं कब शासक और शासित के बीच सीधा नाता जुड़ेगा और एक-दूसरे के प्रति भय, आशंका, अलगाव, वैषम्य और दूरी कम होगी।······

अमरकण्टक में हम लोगों को केवल इतना मौका मिला कि नर्मदा कुण्ड में एक डुबकी लेकर छिली धूल जमा करके नयी धूल संचित करने के लिए शरीर तैयार कर लिया जाय। दस-एक मिनट नर्मदा माई की हाथी के पेट के नीचे सरक्कर निकलने की पुण्य-यन्त्रणा भी हम लोग देखते रहे। बात यों है कि यह हाथी कुछ इस आकार-प्रकार का है कि केवल छोटे-से कदवाले लोगों या ठिगनी और कनकछरी-सी देहवाली कामिनियों को छोड़कर दूसरों के लिए पेट-पीठ छिलाये बिना और दो मिनट तक मृत्यु-सी चक्की में पड़ने की भी यन्त्रणा झेले बिना इस पार से उस पार निकला नहीं जा सकता। और निकल न सकने

पर चूंकि पापी होना स्वतः प्रमाणित हो जाता है, इसलिए पुण्य के प्रमाण देने के लिए जाने कितने धमधूसर लोग भी किसी-न-किसी तरह निकल जाने के विश्वास में दम साधकर हाथी के नीचे घुसते हैं और जब उनका नथुना फूल जाता है, चेहरा सुर्ख हो जाता है, एक-एक नस फूल उठती है, दम घुटने लगती है तो आसपास नर्मदा मैया जब उन्हें किसी-न-किसी प्रकार निकलने की प्रेरणा देती है और निकलकर वह भी मैया की टेर लगा देते हैं। पता नहीं किस मसखरे ने इस पुण्य के प्रत्यक्ष दृष्टान्त की परम्परा चला दी कि मोटी अक्ल और मोटे शरीर वालों के लिए एक अच्छा-खासा प्रहसन तैयार हो गया। मुझे इस समय अफसोस यही हुआ कि मेरे साथ के दो-तीन फ्री-चिकित्सा के भुगतान से इतने भर गये थे कि फिर उन्होंने छाछ को वैसे पीने की कौन कहे, फूंककर पीने से भी इनकार कर दिया और वे इस बार साथ न आये। आये होते तो उनके ऊपर माई के हाथी का यह प्रयोग किया जा सकता था।

फिर ताबड़तोड़ हम लोग आगे पहुँचने की उतावली में राजेन्द्र बाबू के भाषण प्रारम्भ होने के आध घण्टे बाद पहुँचे। मुख्य यही था कि उनके भाषण में ऐसी एकस्वरता थी, जिसको आँख-कान मूँदे पिछले भाषणों के जोर पर लिखा जा सकता था और वही हमने और हमारे साथियों ने किया भी।

वास्तव में राजेन्द्र बाबू का यह भ्रमण केवल योजना के प्रति विश्वास जगाने के लिए उद्दिष्ट जान पड़ा, मानो वे दमयन्ती के पास देवताओं के दूत बनकर नल होकर आये हों। दमयन्ती की विकलता तो नल के लिए है; पर नल को दूत का कार्य ईमानदारी से सम्पादन करना है, इसलिए वे प्रत्येक देवता की प्रशंसा किये जा रहे हों। यही प्रतिक्रिया मेरे आसपास के लोगों में आयी, जो राजेन्द्र बाबू में अपना मनोवांछित पाकर भी उनकी बातों में उतनी मात्रा में नहीं आ रहे थे। बसनिहा (राजेन्द्र ग्राम) में आदिवासी सम्मेलन के उपर्युल्लिखित भाषण के बाद वे उसी दिन बुढ़ार में कोयला-क्षेत्र के लोगों के बीच में अपने हीरक-कण बिखरानेवाले थे। अब की बारी हम लोगों ने यह ठान ली कि राष्ट्रपति के पहले बुढ़ार अवश्य पहुँचेंगे और इस कार्यक्रम में तो हम अपनी अग्रगामिता सिद्ध कर दें और हम सफल होकर ही रहे। यहाँ पर सब से पहले हमने प्रेस-कार्ड की महिमा देखी। टीकमगढ़ में तो मुझे केवल इतना ही अनुभव हुआ कि सब को प्रेस-कार्ड अपने दस्तखत से देकर जब मुझे अपने को प्रमाणित कराने के लिए कोई कानूनी सबूत न मिला तो मैंने सोचा कि बजाय इसके कि मैं इधर-उधर यह चिल्लाता फिरूँ कि बताओ माई, मैं किसका फूफा हूँ, मैंने खुद अपने लिए एक कार्ड प्रमाणित कर लिया। बुढ़ार में ऐसी घटना घटी कि एक माननीय मन्त्री हमारे प्रेस के घेरे में आ गये और उनसे प्रेस-कार्ड जब माँगा गया, तो बावजूद मेरे यह बताने के कि यह माननीय मन्त्री

हैं, हमारे घेरे के अन्दर नहीं आते, जागरूक प्रहरी ने प्रेस-कार्ड के लिए दुराग्रह किया ही। बाद में किसी दूसरे भले आदमी के आने पर इस संकट से मुझे छुट्टी मिली।

भाषण समाप्त होते ही मैंने उस छाया को वन्दना की और सन्तोष की साँस ली कि इस छाया के अनुधावन के व्याज से ही विन्ध्य के विहंगम दर्शन इतनी अल्प अवधि में हो गये और इस सन्तोष-सुख में थकान, भूख-प्यास और चिन्ता सब-कुछ सफल हो गये।

o
o

वेतवा के तीर पर

साहित्य के विकास की धारा वेतवती के कुंजो मे चिरकाल से उलझी रही है। इसकी और इसकी सहायक नदियों के ही किनारे उज्जयिनी, धारा, विदिशा-जैसी प्राचीन साहित्य की राजधानियाँ बसीं और इसी के किनारे कालान्तर मे लगभग तीन सौ वर्षों तक हिन्दी साहित्य की राजधानी फूलती-फलती रही। चतुर्भुज मन्दिर की छत पर खडे होकर जब मैंने व्यासपुरा के खण्डहरों को देखा और मुझे बताया गया कि मित्र, केवल हरीराम व्यास प्रवीणराय आदि कलाकारों की हवेलियाँ अमुक-अमुक हैं, तो मुझे लगा कि ओरछा, तेरा कैसा सौभाग्य है कि हिन्दी के इतने प्रसिद्ध कवियों के सही जन्मस्थान कौन वहे, घर-द्वार को भी तुमने रक्षा की है, जबकि अधिकाशतः महाकवियों की जन्म-भूमि के प्रश्न को लेकर जाने कितने सन्देह और वाद-विवाद बढते चले जा रहे है। दूसरे ही क्षण मैंने यह सोचा कि हिन्दी का दुर्भाग्य भी कैसा प्रचण्ड है कि अपनी जानी निधियो की भी स्मृति वह उचित रूप से रक्षित नही कर पाती है। आज जब हिन्दी को समस्त भारत मे सम्मान मिलने का शुभ अव-सर प्राप्त हुआ, तो उसकी विपद्कालीन आश्रयभूमि उपेक्षित पडी रहे, यह दुर्भाग्य नहीं, तो क्या है।

प्रति रामनवमी के दिन झाँसी से महाकवि केशव के वशज आकर उनके घर की दालान मे बुहारू लगा देते हैं। इसी मे केशव की आत्मा का पूरा तर्पण हो जाता है। कभी यहाँ हिन्दी का संग्रहालय हो सास्कृतिक केन्द्र हो या कुछ और साहित्यिक आयोजन का केन्द्र हो, इसे सोचने का भार मानो हिन्दी बोलनेवालो और पढनेवालो पर है ही नही।

सब से मार्मिक स्थल वहाँ का फूल बाग है, बेला की क्यारियों के बीच एक छोटा-सा मण्डप है। उस मण्डप की छत एकदम जीर्ण-शीर्ण हो गयी है, जैसे-तैसे ईंटो के खम्भो पर थमी हुई है और असख्य लाल भुनगो से आक्रान्त वीर हरदौल की समाधि है, जिस हरदौल की आहुति के गीत बुन्देलखण्ड मे गाँव-गाँव घर-घर गाये जाते हैं और बिना उनके गीत के कोई भी काम पूरा नहीं उतरता, ऐसी प्रबल मान्यता लोक-विश्वास मे बस गयी है। पर हाय रे

लोक-श्रद्धा का आपार्थिव रूप कि चार-पाँच सौ रुपये से कम में भी सुधरने-वाली इस प्रेम-समाधि का पुनर्निर्माण नहीं हो पा रहा है। फूल बाग भी उजड़-सा रहा है। इस फूल बाग में घूमते-घूमते मुझे हरदौल की कथा याद आयी और बुन्देलखण्ड के कोकिल मैयालाल व्यास की 'हरदौल जू का विषपान' शीर्षक कविता भी स्मरण हो आयी, जिसमें ईर्ष्या, कर्त्तव्य, प्रेम और बलिदान की अनूठी योजना गुम्फित कर दी गयी है। ओथेलो और डेसडेमोना की करुण कहानी तो तीव्र होते हुए भी इस आहुति के आगे ओछी पड़ती है।

कथा यों है कि महाराज जुझार सिंह और हरदेव सिंह (हरदौल) सगे भाई थे और दोनों के बीच में प्रगाढ़ प्रेम-सम्बन्ध था; पर अनदेखना चुगल-खोरों से यह बात सही नहीं गयी और उन्होंने जुझार सिंह के पास, जो कि प्रायः दिल्ली रहा करते थे, एक गुप्त सन्देश भेजा कि आपकी रानी का हरदौल से अनुचित सम्बन्ध है। जुझार सिंह के मन में ईर्ष्या की आग दहक उठी। वे तुरन्त ओरछा के लिए प्रस्थित हुए। ओरछा आते ही उन्होंने अपनी रानी से कहा कि यदि तुम्हारा सतीत्व अखण्ड और विशुद्ध है तो उसकी परीक्षा यही है कि तुम अपने हाथ से हरदौल को विष दे दो। दुरन्त और दुस्सह अन्तर्द्वन्द्व के अनन्तर रानी ने अन्त में पूरी गाथा अपने दुलारे देवर को सुना दी और हर जैसे निर्विकार वीर हरदौल ने हँसते-हँसते विष ले लिया तथा विन्ध्य-भूमि और विन्ध्य-भूमि की रानी की जय बोलते हुए प्राण विस-र्जित कर दिये। इतने ही में जुझार सिंह को भूल मालूम हुई, पर पंछी उड़ चुका था। उस करुण-बलिदान में दम्पति का हृदय एकाकार हो गया और न केवल ओरछे में हरदौल की समाधि बनी, बल्कि गाँव-गाँव हरदौल का चबूतरा बना और कोई भी मांगलिक कृत्य हो, हरदौल का गीत उसका एक अनिवार्य अंग बन गया।

उसी प्रेम-समाधि के किनारे खड़ा-खड़ा सोचने लगा कि जन-रागिनी और उसकी अन्तःश्रद्धा जाने कितनी घटनाओं को अपनी गहराई के जादू से दैवी रूप प्रदान कर देती है, इतिहास विफल रहता है, कला समय का आघात बर्दाश्त नहीं कर पाती और साहित्य कभी-कभी पन्नों में सोया रह जाता है, किन्तु लोक-रागिनी का स्वर आँधी पानी के बीच समय की उद्दाम-धारा के बहाव के बीच, विस्मृति के कितने अभिचारों के बीच भी उसका स्वर शाश्वत बना रहता है और यद्यपि यह नहीं पता चलता कि किस युग से, किस घटना से और किस देश से उसका सम्बन्ध है और यह भी नहीं पता चलता कि उसके कितने संस्मरण अपने-आप अनजाने कण्ठों द्वारा हो गये हैं, पर उनमें जो सत्य सत्त बनकर खिंच आता है, उसे कोई भी हवा उड़ा नहीं पाती, क्योंकि वह सत्य बहुत भारी होता है।

इसके बाद हम लोग सिद्ध खंगार की गुफा देखने गये। पता चला कि चतुर्भुज मन्दिर के स्वर्ण-कलश को चुराने का विफल प्रयत्न करनेवाले एक चोर की यह साधना-भूमि है और पूछने-जांचने पर पता चला कि दो व्यक्तियों ने स्वर्ण-कलश चुराने की योजना बनायी। उनमे एक था खगार, जो कि कलश लेने ऊपर चढा और दूसरा नीचे पहरा देता रहा। कलश लेकर खंगार विकट रास्ते से उतरते-उतरते एकदम स्तम्भित हो गया। उसने देखा कि महाराज मधुकरशाह भोर मे घूमने निकले हैं और पहरेदार साथी जान छोड़कर भाग गया है। उसे और भी अधिक आश्चर्य हुआ, जब महाराज मधुकरशाह ने उसे बहुत प्रेम से बुलाया और कहा कि "भाई, मैं तुम्हारे दुस्साहस की सीमा पर प्रसन्न हूँ। तुम्हारा अपराध तो पहले ही क्षमा कर दिया। अब जो चाहो, वह मांग लो।" अप्रत्याशित क्षमा से उस पेशेवर चोर की मनोवृत्ति एकदम पिघल गयी और उसने केवल यही मांगा कि जहां किसी से मेरी भेंट न हो, जहां कोई भी मुझसे मिलने न जाय, ऐसे स्थान मे रहकर एकान्त साधना करने की व्यवस्था यदि आप करा सकें, तो इसी को सब से बड़ा उपकार मानूंगा। महाराज ने उसे और कुछ देना चाहा, पर अपने असामाजिक अपराधो का प्रायश्चित्त करने की ग्लानि उसके मन मे इतनी अधिक थी कि उसको समाज मे मुँह दिखाना भी मृत्यु-यन्त्रणा लगने लगा। उसी की यह गुफा थी, जो न केवल पाप की प्रतिवेदन की साकार मूर्ति थी, बल्कि मध्ययुगीन न्याय की एक जीवन्त प्रमाण भी, वह न्याय जो कि मनुष्य की दुर्बलताओ से ऊपर उठने का अभिमान न करता हो।

इतने मे धूप प्रखर हो चुकी थी और मैं नया-नया ज्वर से उठा था, इसलिए बड़ी दारुण प्यास लग रही थी, केवल महाकवि केशव के वंशजो का उत्साह मुझे खीच ले जा रहा था। केशव के घर के खण्डहर तक पहुँचते-पहुँचते उतरी दालान मे किसी कदर निढाल हो करके मैं भहरा पड़ा। मुझे ऐसा लगा कि केशव के मर्मान्तक दुख की हेतु--जरा जर्जरता मेरे अंग-अंग मे छा गयी हो, वहां के स्थानीय कार्यकर्त्ता मुन्नूलालजी ने दया की और मुझे मिसरीमय प्रसाद की डली के साथ जल से कण्ठ सींचने को मिला। तब जाकर केशव की सुधि आयी और साथ मे भेजे गये कानूनगो साहब की सहायता से भवन के नक्शे की नाप-जोख और मरम्मत का तखमीना लगाने बैठा। मेरे मित्र गौरीशंकर द्विवेदीजी का उत्साह इस दिशा मे प्रशंसनीय है। विन्ध्यप्रदेश की राज्य सरकार ने उन्ही के आवेदन पर इस केशव-स्मारक भवन का सुधार-कार्य अपने हाथ मे ले लिया है।

केशव के घर मे केवल एक दालान और वह भी छत नदारद, बाहरी बरामदे की दीवालें, घर के दरवाजे कुछ-कुछ साबुत बने हुए हैं। इस मकान

से थोडी ही दूर पर प्रवीणराय वेश्य का भवन है। यह स्मरण आया कि केशव ने इसी दालान मे बैठकर 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'रामचन्द्रिका', 'जहाँगीर जसचन्द्रिका', 'विज्ञानगीता', 'वीरसिंहदेव-चरित' आदि ग्रन्थों पर अपनी लेखनी चलायी होगी। लगा भी यह कि कौन जाने जीवन के अन्तिम भाग मे घर-गृहस्थी की झंझटो से मुक्त होकर, अपने आश्रयदाता के व्यवहार से उदासीन होकर एकान्त रूप से यहाँ साधना करने बैठे होगे और इस दालान में जाने कितनी सन्ध्याएँ उनकी काव्य-चर्चा और मर्मज्ञ प्रवीणराय की मर्मस्पर्शिनी समालोचना से मुखरित रही होगी; क्योकि केशव के जीवन का अन्तिम भाग काफी दग्धता और विरक्ति से भरा हुआ है। पर इतना स्पष्ट है कि प्रवीणराय के साथ उनकी साहित्यिक मैत्री एक क्षण भी शिथिल नही हुई। वैसे यहाँ पर प्रवीणराय के दो-दो मकान हैं; पर प्रवीणराय के एकान्त निवासवाला भवन महाकवि के घर की सन्निधि मे ही है। जिन लोगों के मन मे केशव के काव्य के बारे में रूखेपन और पाण्डित्य का भ्रम है, उन्हें कदाचित् यह पता नहीं है कि केशव हिन्दी के उस मध्य युग के कवियो मे सब से अधिक व्यवहारविद्, लोक-कुशल और मनुष्य के स्वभाव के मर्मज्ञ कवि है। भाषा मे परम्परा के विशिष्ट अध्ययन का प्रभाव जरूर है, पर तत्कालीन परिस्थितियो को देखते हुए क्लिष्टार्थता नही है। जीवन मे राज-नीति और कविता दोनों को एक साथ निवाहने मे यदि कोई सफल हो सकता है तो वह केवल केशव और राजनीति मे भी आदर्श और यथार्थ, सिद्धान्त और व्यवहार तथा देश और व्यक्ति इन सभी के बीच मे सामंजस्य स्थापित करना केशव का लक्ष्य था। इन दृष्टियो से केशव का अध्ययन विशद रूप से होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि उसके बिना सही-सही मूल्याकन उनका हिन्दी साहित्य के इतिहास में हो नही सकता।

विन्ध्य-प्रदेश सरकार इस केशव-भवन के पुनरुद्धार तथा सिंगार के लिए प्रयत्नशील है। साथ ही केशव-परिषद् भी इसके लिए सन्नद्ध है; पर ओरछा तो हिन्दी कविता की राजधानी रही है। हरीराम व्यास की जन्मभूमि होने का भी इसे सौभाग्य प्राप्त है और अभी तक व्यास जी का भवन भी मौजूद है। व्यासजी का महत्व भक्त-कवियो मे अब तक बहुत ही उपेक्षित-सा था और उनके बारे मे सही-सही जानकारी निर्विवाद रूप से उपलब्ध नही थी। पर हाल ही मे उन्हीं के वंशज और मेरे मित्र श्री वासुदेव गोस्वामी ने एक विवेचनात्मक ग्रन्थ, जिसमे उनकी वाणी भी सग्रहीत है, हिन्दी को भेंट किया है। प्रसंगवश यहाँ इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि यह ग्रन्थ गोस्वामीजी की निजी दायित्व की ही पूर्ति नही करता, बल्कि समस्त हिन्दी-वालो के पुण्य कर्त्तव्य की भी। ओरछा में आश्रय पानेवाले और भी कवियो

को—कलाकारो की स्मृति आज के खण्डहरो मे पडी हुई है। पुराने कागजों के अम्बार में कितनी विरल और अप्रकाशित रचनाएँ दुबकी पड़ी हैं, नहीं बता सकता। बताने से लाभ भी क्या, जबकि परख रखनेवालो मे प्रकाशन का विशेष उत्साह न हो? आज जो जीवित साहित्यकार को उसकी प्रतिभा का प्रतिकर देने की आवाज कितने कोनों से उठायी जाती है, इसका आकलन करते समय मुझे यह लगता है कि सरकार या इस दिशा मे कार्य करनेवाली किसी प्रतिष्ठित सस्था का पहला कर्तव्य, जो जीवित नही है, उन साहित्य-कारो की कृतियो का प्रकाशन होना चाहिए, क्योंकि साहित्य का कोई भी कृतिकार अपने लिए नहीं लिखता। वह केवल अपनी दाय छोड जाता है। यह सही है कि प्राचीन युग की बहुत-सी रचनाएँ ऐसी भी होंगी, जो अपने लिए लिखी गयी होंगी अर्थात् उसके लिखने से अपनी पूजा हुई होगी, आगे आनेवाली पीढी के लिए निजी भोग से कुछ बचा न रहा होगा; पर इसका अर्थ यह नही है कि उस युग की समस्त देन को बुहारू लगाकर बेतवा की धार मे विसर्जित कर दिया जाय, क्योंकि उस युग की नाडी की धडकन यदि कहीं मिल सकती है, तो इन्हीं रद्दी की टोकरियो मे। मनुष्य का कोई भी इतिहास मलिन नहीं होता, उसका कोई भी दान, यदि वह सचमुच दान है, तो छोटा नही होता। दान को दान की मात्रा से नही, देने वाले की शक्ति से मानना चाहिए।

ओरछा का राजकीय वैभव जहाँगीर महल मे स्मृति-शेष रूप में मौजूद होते हुए भी उतना विशेष महत्त्व नही रखता, क्योंकि वैभव की देवी चंचल होती है। जिसे शाश्वतता कहते हैं, वह उसका प्राप्य नहीं है और कोई भी राज्य या उसका प्रतिनिधि यदि समय की कूँची से नाम-शेष रहता है, तो केवल अपनी उन काया से, जिनके कारण सरस्वती के वाहन को नये पंख मिलते है।

स्थापत्य-कला की दृष्टि से चतुर्भुज मन्दिर का एक विशिष्ट महत्त्व है, वह यह कि बुन्देला स्थापत्य-कला का वह एकमात्र सजीव उदाहरण है। इस बुन्देला स्थापत्य-कला मे वातायन और गुम्बद नागर शैली मे नयी कडी के योग हैं। राममन्दिर महाराज भारतीचन्द द्वारा निर्मित महल है, जो बाद मे महाराज मधुकरशाह की महारानी गणेश कुँवरि का निवास-भवन हो गया था। महारानी ने यहाँ अयोध्या से लाकर राम की मूर्ति स्थापित की थी।

रामनवमी के दिन यहाँ बहुत बडा मेला लगता है और उसी समय महाकवि केशव की जन्म-तिथि भी मनायी जाती है। दूसरा प्रसिद्ध मन्दिर पश्चिम-उत्तर कोने मे अवस्थित लक्ष्मीजी का है, जिसके अन्दर अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के सुन्दर भित्तिचित्र अंकित हैं। दुख इतना ही है कि

बुन्देला कलम की इस अनुपम देन की बीच में कुछ ऐसी दुर्दशा कुछ हृदयहीन लोगो ने की है कि कोई भी चित्र खरोच लगाये बिना क्या, दर्शक के बाबा-दादो की सुकीर्ति-गाथा से अस्पृष्ट हुए बिना बचा नही है। मुझे तो ऐसा लगा कि जिन-जिन लोगो ने अपने बाप-दादों के समेत अपने पते वहाँ उत्कीर्ण किये है, उन सब का एक रजिस्टर बनवाकर एक बडी संगमरमर की शिला पर निहायत काले अक्षरो मे सम्बद्ध रूप से उनके नाम अंकित करा दिये जायें और प्रत्येक ऐसे सज्जन को कम से कम बीस बेंत की सजाएँ देने के लिए कोई भी विशेष कानून बनाकर उसी शिलालेख के समक्ष सजा दी जाय। तब कहीं जाकर उन कलाकारो की प्रताड़ित आत्मा जुड़ा सकेगी।

घूमते-घामते काफी देर हो गयी थी और दतिया का आमन्त्रण जोर मारने लगा था। अपने मित्र गौरीशंकरजी द्विवेदी के साथ झाँसी लौटते समय मोटर मे बार-बार सोचता रहा कि जहाँ वीरसिंहदेव, मधुकरशाह, हरदौल और अभी हाल के अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद ने देश की आन पर अपनी आहुति दी हो और उनकी आहुति की वेदी पर भारती ने अपने विविध शृंगार छीटे हो, वहाँ क्या आज एक सांस्कृतिक तीर्थ स्थापित नहीं किया जा सकता। कितना स्थान यहाँ पर अपनी रिक्तता में बिलख रहा है, कितनी स्मृतियो के तार यहाँ पड़े-पड़े जंग खा रहे हैं, कितनी कल्पनाएँ यहाँ अदृश्य छाया-सी पंख फड़फड़ा रही हैं। क्या उनका आमन्त्रण कभी हमारे बहरे कानों तक पहुँचेगा, जो अपने-अपने हिन्दी-प्रेम, संस्कृति-प्रेम के नारो से संसार-भर को बहरा बनाये हुए हैं? चलते-चलते मैंने ओरछा की स्मृतियो से द्रवित बेतवा की रसधार को प्रणाम किया, वह रसधार जिसने जाने कितनी संस्कृतियों का मिलन-विछोह, विकास-ह्रास देखा है और जाने कितनी अमर संजीवनी मूर्च्छनाओं की प्रतिध्वनि अपनी लहरियों के गान में भरी हैं, कितनी आहुतियो की दीपमालाएँ अपने वक्षस्थल पर उसने ज्योतित की हैं, जाने कितने देश के दुःख-दर्द से आकुल और सन्तप्त कवियो के मेघदूतों ने उसमे प्यास बुझायी है और अपने गन्तव्य स्थान की यात्रा के लिए पानी भरा है। मालवो, भारशिवों, वाकाटको, परमारो, चन्देलों और बुन्देलों की कीर्ति-कौमुदी से कितना अमृत उसे प्राप्त हुआ है, इन सबको आँकने के लिए भी आज हमे अवकाश नही है। हम नये इतिहास का निर्माण करने चले हैं, पर हमें उसके आधार का पता नही है, मानो हमारी इस नादानी पर उसकी लहरें खिलखिला रही हों। मैंने इस हास्य को प्रणाम किया।

होइहैं शिला सब चन्द्रमुखी

गोसाईंजी ने जब विनय के वाणी उक्तियों के साथ मधुर परिहास करते हुए लिखा था कि राम के चरणों के स्पर्श से समस्त शिलाएँ चन्द्रमुखी हो जायेंगी, यह जानकर इन तापसी जनों को मन-ही-मन बहुत आनन्दलाभ हो रहा है, तब निश्चय ही उनके कलाग्राहक मन में खजुराहो की स्मृति रही होगी, जहाँ कि ऐसा लगता है कि विश्व के समस्त सौन्दर्य की गतिशीलता पाहन के बन्धन में छटपटाती हुई बँध गई हो और जहाँ कि शिलामयी चन्द्रमुखियों की भंगिमाओं को देखकर सहज ही मांसल सौन्दर्य की मोहकता बिसरायी जा सकती है। मैं खजुराहो कई बार हो आया हूँ, ऐसे लोगों के साथ, जिनसे कला से या सौन्दर्य की रसानुभूति से ३ और ६ का सम्बन्ध रहता है, ऐसे लोगों के साथ भी जो कला के प्रत्येक उत्कर्ष में पार्थिव धरातल छोड़कर एकदम ऊपर उठ जाते हैं, ऐसे लोगों के साथ भी जो साहित्य के अधकचरे ज्ञान की बदौलत अपनी वासनाओं की प्रतिच्छवि ढूँढ़ने की ऐसी जगहों में कोशिश किया करते हैं और ऐसे लोगों के साथ भी जो मेरी तन्मयता में अधिक तन्मय हुए हैं और जिस कला के साथ यह तन्मयता है, उसमें कम।

पर मैं जब-जब गया हूँ, तब-तब मुझे यही लगा है कि शायद यह चीज पहली बार मैं इस दृष्टि से नहीं देख सका था या यह चीज यहाँ नहीं थी, आज यहाँ नयी आ गयी है। बराबर लगा है कि जैसे कोई गायक अपने स्वरों को नयी मींड दे रहा हो या कोई चितेरा अपने चित्र में नयी वर्णच्छाया भर रहा हो या कोई महाकवि अपनी पंक्तियों में नयी व्यंजना दे रहा हो या कोई दार्शनिक अपनी चिन्तना में नयी कड़ी जोड़ रहा हो। नयेपन का यह सर्वांगीण बोध क्या ह्रासोन्मुख कला या तथाकथित अनैतिक समाज की कुण्ठाओं की अतृप्तियों की प्रतिकृति कही जानेवाली सामन्तकला या हेय दृष्टि से देखी जानेवाली मनुष्य की भोगलालसा में कभी फले-फूले, यह सम्भव नहीं है। सत्य से बढ़कर कोई नैतिक आचरण होता नहीं और जो उस सत्य को शिवरूप दे सके वह कला केवल इसलिए हेय हो जाय कि उसका कुछ विपरीत प्रभाव अपरिपक्व मस्तिष्कवाले या विकृत हृदयवाले पामर जनों पर पड़ता है, यह उचित नहीं। इसलिए जब मैंने अपनी पहली यात्रा में ही अज्ञेयजी को यह सुझाया कि खजुराहो के मन्दिरों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वांग-सुन्दर मन्दिर कन्दरिया

का नाम इस परिसर को देखते हुए कन्दर्पेश्वर होना चाहिए तो उन्हें भी बहुत रुचा और उन्होंने कहा था कि यदि काम शिव को पुनः अपने अनुकूल बनाने के लिए कोई साधन सोचता तो शायद यहाँ की कला-साधना से वह ओछा ही पड़ता। यही बात प्रकारान्तर से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किसी दूसरे प्रसंग में दुहरायी थी कि गतिशील सौन्दर्य को यदि कोई शिव कहीं टिका पाया है तो वह खजुराहो के इन कला-तीर्थों में, जहाँ पर शिव के भाग्य में लिखी हुई कला की रेखा की सफलता दिख जाती है।

खजुराहो रीवा से लगभग सड़क से सौ मील है। रीवा-नौगाँव सड़क पर पन्ना की मनोरम घाटी पार करने के बाद केन नदी का पुल पड़ता है। केन नदी बरसात में बहुत भयंकर हो जाती है—और पुल जो कि रपटा मात्र है, जलमग्न हो जाता है, और महीनों में बड़े-बड़े विशाल भूरे पत्थर के ढोंकों के नीचे नन्ही दुबकी-सी दिखाई पड़ती है और केवल जहाँ-तहाँ कुछ मरकतमय जल का प्रसार सघन हो जाता है। इस स्थान से खजुराहो पैदल रास्ते से केवल आठ-नौ मील है और खजुराहो के मन्दिरों के लिए पत्थर यहीं से ढोये गये थे, इसका प्रमाण जार्डिन म्यूजियम में उपलब्ध एक शिल्प में प्राप्त होता है। जन-श्रुति के अनुसार जिन चन्देल नृपतियों की कीर्ति का वितान खजुराहो में है, उनके उद्भव की कहानी इस प्रकार है कि कर्णवती (केन) और चन्द्रमा के सम्मिलन से चन्द्रात्रेय (चन्देल) वंश की उत्पत्ति हुई। इस जनश्रुति का और कोई अर्थ हो न हो, पर इतनी ध्वनि इसमें अवश्य निकाली जा सकती है कि खजुराहो की कला जहाँ अपने उपादान के लिए कर्णवती की ओर उन्मुख है, वहाँ कल्पना एक मोहक आह्लाद के लिए शिव के ललाटवासी चन्द्रमा की मुखापेक्षी। दूसरे शब्दों में कर्णवती के युगों के सोये अरमानों का साकार स्वप्न है खजुराहो का कला-वितान।

इस केन नदी के पुल पर गाड़ी रोककर हाथ-मुँह धोकर जब मैं सोचने लगा कि वर्ष-भर होने को आया पर अभी बड़े पुल के निर्माण में आधुनिक युग के समस्त साधनों के होते हुए भी जो प्रगति की जा सकी है, वह काफी मन्द है और कितनी खर्चीली है, यह तो अलग बात है। और जब टनों सामान लादने वाली ट्रकें नहीं थीं, टनों बोझ एक बार में उठाने वाले क्रेन नहीं थे और जब भवन का रेखाचित्र बनाकर देश-भर के निर्माण-विशारदों का सम्मेलन बुलाने का साधन नहीं था, तब भी जिन लोगों ने हद से हद बैलगाड़ी पर बड़े-बड़े पत्थर के ढोंके लादकर इतने मन्दिरों का निर्माण किया, वे अति-मानव तो नहीं थे। कम से कम यह तो सही ही है कि अपनी कृति के लिए जो एकान्त समर्पण और उस कृति के द्वारा परम शिव की आराधना के प्रति अटूट विश्वास यदि उनमें न होता तो कोई राजशक्ति भाड़े पर उनसे यह निर्माण-कार्य नहीं

करा सकती थी। भाड़े पर बुत खड़े हो सकते हैं, दीवार बन सकती है, या अधिक से अधिक ज्यामिति की शर्तें नहीं की जा सकती हैं, पर सजीव रूप का नर्तन या मानव-जीवन के समस्त उल्लास इस प्रकार विविध रीतियों में विकिरण या समस्त कलात्मक व्यापार का शिव में केन्द्रीयकरण तथा समस्त ऐन्द्रिय रसानुभूतियों को पारमार्थिक आनन्द की अवस्था में उन्नयन, इन सब के अभाव में इतनी अधिक सिद्धि सम्भव नहीं होती। म्यूजियमवाले उस शिल्प में पत्थर ढोने और उठानेवालों के मुख पर जो एक विलक्षण उल्लास की भंगिमा है, यह कभी भाड़े की नहीं हो सकती। यह स्पष्ट इंगित करती है कि खजुराहो का निर्माता केवल कलाजीवी नहीं था, कला-साधक था। उस समय सब से अधिक प्रचलित दर्शन सिद्धान्त को अपनाते हुए अपने माध्यम द्वारा, शिल्प द्वारा महान् विश्वव्यापी आनन्द तत्त्व की सच्ची आराधना उन्होंने की है।

केन के पुल के लगभग आठ-दस मील आने पर बमीठा आता है जहाँ से दायें को ओर एक सड़क फूटती है और खजुराहो की ओर ले जाती है, खजुराहो से बस-सर्विस नियमित रूप से आती-जाती है। कह नहीं सकता, पर शब्दों के लिए जातिवश एक विशेष आकर्षण होने के कारण बमीठा नाम से मुझे यह तत्काल ध्वनि निकलती लगी कि कहीं यह वामिष्ठा का स्मृति-दोष तो नहीं है, क्योंकि जो २४ वर्गमील के घेरे में लगभग ८४ मन्दिरों का विस्तार पुराने विवरणों में वर्णित मिलता है, उसके अनुसार तो यह स्थान उस महान् वाम-साधना के तीर्थ का द्वार रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। बमीठा से लगभग ७ मील पर वर्तमान खजुराहो पड़ता है। खजुराहो गाँव के पहले खोहर नाला पड़ता है। सब से पहले सड़क से जो चीज दिखाई पड़ती है, वह है शिवसागर तालाब और उसके पीछे कुछ बड़े पेड़ों की ओट में खजुराहो के दक्षिणी समूह के मन्दिर। चन्देलों और बुन्देलों ने तालाब बनवाने में विशेष रुचि दिखलाई है, पर आज उनमें से अधिकांश मरम्मत के अभाव में भग्न पड़े हुए हैं। इस सरकार का ध्यान उधर जा रहा है, यह सन्तोष की बात है। नहीं तो इन जलाशयों में उजड़े हुए कमल जो हजारों वर्षों की अतीता लक्ष्मी के विहार की स्मृति प्रस्तुत करते हैं, वह पुरोगामी से पुरोगामी हृदय को भी द्रवित कर देती है। जिस सामन्त शब्द के साथ लगी हुई प्रत्येक परम्परा का आज हम चुटकी उड़ाते-उड़ाते महज एक फ्यूडल नाम देकर तिरस्कार कर देते हैं, उसका भी कृतित्व मनुष्य की ऊँची से ऊँची आकांक्षा को स्पर्श करनेवाला है, यह समय के आघात से बचे हुए इन पुरावशेषों में स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता है। लगता यह है कि जो सन्तुलित दृष्टि अतीत के मूल्यांकन के लिए अपेक्षित है और जिससे अपने को समझने और अपने भावी निर्माण को साकार रूप देने में सहायता मिल

सकती है, वह प्रायः लोग नहीं रख पाते। या तो पुरानेपन के लिए चिपकाव ही रहता है या नयेपन का उन्माद ही। दोनों के बीच में कोई सीमान्त-रेखा देखने की कोशिश भी नहीं की जाती। प्रत्येक कला अपने परिसर और अपनी पिछली परम्परा को लेकर ही प्रस्तुत होती है। इसलिए उसके रस-ग्रहण के लिए भी, उसके देश-काल के प्रति न केवल सहानुभूति अपेक्षित होती है, बल्कि साथ ही वह संतुलित विमल दृष्टि भी जिससे उसको आज से जोड़ने में मदद मिल सके।

खजुराहो के मन्दिरों का निर्माण-काल लगभग छठी-सातवीं शताब्दी से लेकर, यदि जैन मन्दिरों के पुनरुद्धार को सम्मिलित कर लिया जाय, १६वी-१७वी शताब्दी तक फैला हुआ है। चौंसठ योगिनी के मन्दिर के अवशेषों तथा उसकी कुछ अनुमानित प्रतिमाओं के संग्रहालय मे अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह स्थान निश्चित ही कोई जीवित शक्तिपीठ था और यहाँ ताराओं कि साधना प्रवर्तित थी। पर कैसे यह शक्तिपीठ धीरे-धीरे शैव और वैष्णव क्षेत्र बना, यह किसी दबाव या आकस्मिक परिवर्तन के कारण नहीं, बल्कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की ओर से जो क्रमशः यह प्रयत्न जारी था कि शक्ति मे अवस्थित चिदंश मे शिव को परिस्फुरित कराया जाय, उसी का यह अवश्यम्भावी परिणाम है। शंकर के अद्वैत और शक्ति तन्त्र के बीच एक ओर तथा लगभग उसी समय प्रचलित वज्रयान शाखा की सहजिया साधना और वैष्णवों की रागात्मक भक्ति के बीच दूसरी ओर सुन्दर समन्वय प्राप्त करने का यह सफल प्रयत्न है, अब इसको जो आँखें ह्रासोन्मुखता का कारण मानती हैं, उनकी प्राज्ञता के बारे मे क्या कहा जाय? जो इन्हे समाज के अनैतिकता का दर्पण मानते हैं, कुण्ठित विकारो को क्या कहा जाय और जो काम से आगे कभी ऊपर उठ नहीं पाये, इसलिए उन्हें अपने काम की विकृति की परितृप्ति मिलती है, उनकी मूढ़ता को क्या कहा जाय? पर सही बात यह है कि कला का सत्य इतना विराट् होता है कि वह स्थूल बुद्धि के लिए गोचर हो नहीं सकता, जब तक कि वह ऐसे प्रतीकों को न ग्रहण करे, जो स्वयं स्थूल हो और यदि आनन्द के प्रतीक के रूप मे भौतिक सुखो का चरम उत्कर्ष रति-गृहीत है, तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि वह आनन्द अपने इस प्रतीक मे पर्यवसित है। प्रतीक सर्वत्र व्यञ्जक साधन के रूप में ग्रहीत होते हैं और प्रतीकों में भी साध्य की इतिश्री मानना वज्र मूर्खता है। जो लोग अपने दिमागी नक्शे मे खजुराहो की कला ढालना चाहते हैं, उन्हें एक क्षण के लिए यह सोचना चाहिए कि उसका निर्माता कौन था, कब था, कहाँ था और यदि उसकी आत्मकथा आज छपी हुई नहीं मिलती है तो क्या उसकी कृति में उसकी आराधना का केन्द्रबिन्दु वही है जो गर्भगृह मे प्रतिष्ठापित गहनता, शून्यता के साथ-साथ विशालता और

परिपूर्णता से परिवेष्टित प्रतिमा तक पहुँच नही पाते, बाहरी दीवार की रूप-लालसा मे भटक जाते हैं—हम तो रूप की प्रतिच्छवि या छाया मे ही तड़प उठते हैं और रूप का समग्र पान करने की कौन कहे, केवल उसकी अतृप्ति चाहना मे ही आत्मनिवेदित हो जाते हैं। पार्थिव रूप के उन्माद मे भरपूर डूब कर भी उससे भी बड़े आनन्द के लिए सन्नद्ध चैतन्य ही खजुराहो के कलाकार का नैतिकत्व है, यह विसरा देना उसके साथ महान् अन्याय करना है। मेरे बहुत से मित्रों ने मुझे कोसा है कि तुम आर्य संस्कृति मे पले होकर भी ऐसे कुत्सित और अश्लील अकर्मों को भी न्याय्य ठहराते हो? क्या कला-कसौटी जनसाधारण की पहिचान नही है? मैं उन्हें कैसे समझाऊँ कि युग बदलता है तो युग के मान भी बदलते हैं। कालिदास के युग की उच्च स्तर की कलाप्रियता तथा आमोदप्रियता आज नही है और इसलिये हम नीवीबन्ध के उच्छ्वास या विवृतजघना नदी के अंग-विभ्रम का वर्णन पढ़ते ही कुंठित हो जाते हैं। दूर की तुलना क्यों की जाय? हमारी जो नई पीढ़ी है, वही हमारी पिछली पीढ़ी तक के लोगों की घूंघट के प्रति जो एक नैतिक आस्था है, उसे अत्यन्त उपहासास्पद मानने लगी है। यौवन के स्वस्थ उपभोग के बिना मनुष्य की जीवन-साधना अधूरी है, इसे कालिदास जानते थे और कालिदास जीवित हैं और न केवल जीवित हैं, अब भी शिव के भक्तों के लिये कालिदास आराध्य हैं, क्योंकि कालिदास का यौवन शिव-भक्ति में चूक नहीं बर्दाश्त कर सकता। उसका यक्ष शिव की आराधना मे प्रमाद करने से अलका से निर्वासित हो जाता है। आज हमारी कुण्ठा इसलिए है कि उस शिव साधना की दृढ़ आधारशिला हमारे पास नही है। रूप की विछली मे रपटते हुए हमे टिकने के लिये कही ठौर नही है। रूप की उद्भ्रान्ति से बचने के लिए हमारी आँखो मे कोई अजन नही है। यह अविश्वास या अनस्तित्व ही हमे यह सकीर्ण दृष्टि देता है, जिसके कारण हम स्वय गहरी अनैतिकता मे निमग्न होते हुए भी नैतिक-अनैतिक की मीमासा करने बैठ जाते है। नैतिकता का उत्कर्ष वहाँ है, जहाँ से नैतिक-अनैतिक की संधि-रेखा आँखो से ओझल हो जाती है। श्रीमद्भागवत् के गायक परमहंस शुकदेव के समक्ष यदि जल-विहार करनेवाली अप्सराओ को कोई लज्जा नही सता सकी, तो यह शुकदेव की उत्कृष्ट नैतिकता थी। कला भी नैतिकता की इस उत्कर्ष भूमि पर अवस्थित रहती है, यह स्मरण करते हुए ही उसकी आशसा या आलोचना करनी चाहिए।

खजुराहो के ऊपर बहुत कम लिखा गया है और जो लिखा गया है, वह भी एक प्रकार से न लिखा जाता तो उसके साथ अधिक न्याय होता; क्योंकि असमग्र सत्य बराबर असत्य के समान होता है। एक प्रकार से वह असत्य से भी अधिक अहितकर और भ्रामक होता है, क्योंकि उसमें सत्य के आभास की

गन्ध रहती है। पर्यटक आते हैं और आते रहेंगे, पर जब तक कला की पारखी आँखें यहाँ के कलाकार की आँखों से नहीं मिलती तब तक उसकी आत्मा आनन्द में लीन होते हुए भी अपने स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान के लिए बेचैन रहेगी। मैं स्वयं कला का मर्मज्ञ नहीं हूँ, कलाकार नहीं हूँ, पर वहाँ जितनी बार गया हूँ उतनी बार अपनी इस विवशता पर मुझे ग्लानि अवश्य हुई है कि वही मेरे पास परख होती जो शब्दों में अपने को बिखेर पाती तो मैं जो अपने अन्तर्मन से अत्यन्त निश्छलता पूर्वक उस कलाकार की उज्ज्वलता देख सका हूँ, उसको दूसरों तक पहुँचा सकता। स्टीला क्रेमरिश ने केवल कुछ न्याय किया है। मैं भाई (अज्ञेय) को भी इसी निमित्त खींच लाया कि वे ही मेरी साध पूरी करें। पर अभी वह पूरी नहीं हुई और यह व्यथा बनी हुई है। इस बहुधन्धी जीवन में मुझे भी बहुत कम अवसर मिलता है जब खजुराहो की कला के उलझे हुए सूत्रों की गुत्थी शैव तन्त्रागम में या तंत्रागम के शक्तिपात में या त्रिपुर सुन्दरी की ध्यान-मुद्राओं में या शैवागम की प्रत्यभिज्ञा में या भरत के नाट्यशास्त्र में या अभिनवगुप्त के लोचन में संकेत ढूंढूँ। बहुत कम क्षण मिलते हैं और उन क्षणों में ही जो कभी-कभी सुलझाव का एक इशारा झलक आता है, उसको भी अंकित करने का अवसर नहीं मिलता, इसका बराबर अनुताप रहा है और मैं खजुराहो की स्मृतियों को जब आज गूँथने बैठा हूँ तो अपने पुण्यों के उदय को कारण मानता हूँ जिनसे मुझे खजुराहो को अवकाशपूर्वक देखने का अवसर मिला है और साथ ही उन जले पापों को शाप भी देता हूँ जो अभी इस अवसर को सफल नहीं होने दे रहे हैं। इतना जानता हूँ कि खजुराहो स्वयं में एक विश्व है और उस विश्व में जाने के पहले अन्य विश्वों की स्मृति विसर्जित करके जाना ठीक होता है।

रेवा से रीवा

सहस्रबाहु महापराक्रमी कार्तवीर्य के अपार बाहुबल का परिमापन करनेवाली, कार्तवीर्य के कालान्तर मे परवर्ती वंशजों, कलचुरियो की कीर्ति-कौमुदी को अपने हृदयतल मे धारण करनेवाली तथा कलचुरियो के निकटतम सम्बन्धी चालुक्यो की व्याघ्रपराक्रमी शाखा वाघेलो की साहित्य और कला की रसिकता से, विरह की तपन मे आश्वासन का जीवनदान पानेवाली रेवा की कितनी स्मृतियाँ आज के इस रीवा नाम मे आकर मुकुलित हो गयी हैं, कह नहीं सकता। आज जब इस रीवा के आसपास के प्राकृतिक और कलात्मक वैभव के दर्शन के क्षण एक दूसरे से जोडने बैठा हूं तो मुझे लगता है कि यद्यपि रेवा और रीवा मे कोसो का व्यवधान है, पर रीवा और उसके परिसर का प्रत्येक अंग मानो रेवा की मिट्टी से ही ढला हुआ लगता है। विन्ध्य के चरणो मे विदीर्ण नर्मदा का प्रतिरूप बीहर और तिपुरी को भी अपनी सुन्दर कला-कृतियों मे पराजित करनेवाली गोलकी (गुर्गी), कपिलधारा जलप्रपात का जाने कितना गुना आवेग लिए चचाई, क्योंटी और बहुती प्रपातो का उद्दाम यौवन, आम्रकूट की प्राचीन अमराई को अंक भर भेंटनेवाले गोविन्द गढ़ तालाब का मनोरम विस्तार और रेवा-निकुञ्ज की चैत की चाँदनी में जगनेवाली उत्कंठा का आज भी अनेक रससिद्ध कवियों की रचना मे अवतार यह सब चीजें क्या सिद्ध नहीं करती कि रेवा की शिवसाधना का दूसरा अध्याय है रीवा, नर्मदा की संस्कृति के विकास का दूसरा खण्ड है रीवा, नर्मदा के हुलास का दूसरा जन्म है रीवा और अन्त में उसके अनन्त विरह के आवेग का अनेक प्रपातो मे सिर धुनने का दूसरा क्षण है रीवा।

पहले मैं रीवा नगर से ही शुरू करूँगा। मैं घर से बहुत कम घूमने जिसे टहलना कहा जाता है—बाहर निकलता हूँ और समस्त चेतावनियों, उपदेशो और प्रतिदिन की शिक्षाओं के बावजूद भी पैदल तभी चलता हूँ, जब पैदल चलने की परवशता होती है, नहीं तो अपने गुरु के उपदेश के अनुसार उतना ही खाता हूँ, जितना बैठे-बैठे या लेटे-लेटे पचाया जा सकता है। इसलिए इतिहास का ज्ञान तो लेटे-लेटे प्रगाढ होता जाता है, पर कोई मुझसे पूछे कि रीवा मे अमुक जी का या अमुक जी का निवास किस हिस्से मे और किस दिशा मे है तो मैं प्राय अनुत्तीर्ण ही रहूँगा। इसलिए मुझे चीजों को देखने

सुनने का मौका बहुत कम लगता है, पर जब लगता है तब मैं उसका भरपूर उपयोग करने की कोशिश करता हूँ। लोगों से सुना करता था कि लखनऊ की शाम और बनारस की सुबह मोहक होती है, पर रात विन्ध्य की ही। राजकीय मोहकता मुझे बराबर सम्मोहित करती रही है और दिन का ताप सांझ की बाती के साथ स्नेह पीकर बलनेवाले दीपक की जलन से जब-जब मैंने परितृप्ति चाही है, तब-तब मुझे विन्ध्य की रजनी में कृष्णाष्टमी के शशि की भाँति निशीथ में चुपके से वंकिम कला के द्वारा विहाग का सन्देश पहुचानेवाले विश्वात्मा के साथ मैं अनजाने खो गया हूँ और यह भूल गया हूँ कि यह परितृप्ति मैंने मांगी थी, तब-तब मुझे यह लगा है कि इस परितृप्ति का अभाव जीवन में कभी मैंने अनुभव ही नही किया। इन क्षणो का जब उतार होता है, तब अवश्य लगता है कि विस्मृति से बढ़कर मनुष्य को समय ने कोई मलहम नही दिया और यह विस्मृति जितना ही अधिक आत्मा को अभिव्याप्त करके होती है, उसी अनुपात मे मनुष्य सच्चे आनन्द को प्राप्त करता है। विन्ध्य का निवास या शाप भ्रष्टपक्ष की भाँति दुर्दिन का प्रवास इन आत्मविस्मृति के क्षणों को पाकर ही समय-समय पर कृतकार्य होता रहा है और इन क्षणो में ही न केवल यात्रा के लिए नया सम्बल मिला है, बल्कि साथ ही यात्रा का जो चरम गन्तव्य है, उस परम आनन्द की पूर्ण उपलब्धि भी मिली है और मैं इसी के कारण उन अलका के मित्रो का कृतज्ञ हूँ, जिन्होने मुझे यहाँ भेजा और उनसे भी अधिक इनका कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने रसाल के रसास्वाद को वृश्चिक-दंश से प्रतिकृत करना चाहा है। वृश्चिक-दश की व्यथा मंजरी की सुरभिभावना मे निढाल हो जाती है और वह भावना चाहे दो क्षण के लिये भी सघन हो उठे, पर उसके ये दो क्षण युग-युग के दुस्सह तापो, वेदनाओ और पीड़ाओं को उसी प्रकार उपशमन कर देते है, जैसे कि शरीर की छाया के बिछोह को दुपहर मे एक क्षण मिलने वाला सान्निध्य या जैसे कि जीवात्मा को परमात्मा से अविलग होने की दिव्य उन्माद-दशा की एक झलक या जैसे कि समस्त शोक के निश्वास के लिए राम नाम का एक बार जाप या जैसे कि काव्य-तत्व की मृगतृष्णा के चिरन्तन भटकाव को मानस की पुरइन सरीखी चौपाइयो मे ढुलकने के लिए व्याकुल एक ओस-कण की झलमलाहट।

अभी बहुत ताजी याद है, जब मुझे रीवा को अपने बाहुपाश में घेरने-वाली बीहर और बिछिया मे, चचाई की घाटी मे तथा गुर्गी के खण्डहरों मे भरपूर रमने-घूमने का मौका मिला है। पहले मैं बिछिया और बीहर के संगम से ही अपनी बात शुरू करूँगा।

इन नदियों के आरपार मोटर से कई बार गुजरा हूँगा, पर इनके बीच मचलनेवाले उपलों के साथ या इनके हृदय में उठनेवाली लहरियो की हिलोर

के साथ एकाकार होने का अवसर कुल तीन-चार बार मिला होगा। इन सभी अवसरों की स्मृतियाँ सजाई हुई है। सबसे पहली बार यथानाम स्वभाववाले- निर्द्वन्द्व जी के कुटीर पर उनके पूर्वजों द्वारा बनवाये हुए रपटे पर रात में सँभल-सँभलकर पैर रखते हुए गोस्वामीजी के साथ पहली पग-यात्रा, दूसरी बार खजुराहो-यात्रा की तैयारी के समय कुछ ड्राइवर, कुछ मोटरखाना और कुछ सरकारी मशीन के चरखे की कृपा से, बिलकुल विशृंखल हो जाने के फलस्वरूप किसी प्रकार मन को समाधान देने के लिए राममित्र जी द्वारा आयोजित नौका-यात्रा मे भाई (अज्ञेयजी) गोस्वामी जी, मित्र जी और कला की मूर्तिमन्त साधना सरीखी कपिला जी के साथ जमुना के निकुंजों मे से झांकते हुए मन के मीत चन्द्रमा के साथ होड की वह काव्यमय वेला, तीसरी बार मित्र जी के दिवगत अनुज के अत्यन्त करुण निधन के समय शोकनिमग्न सार्थ के साथ अधियारी रजनी के हृदय मे अपनी निस्तब्धता को प्रतिध्वनित करनेवाली उस अर्द्धचेतन जन-पंक्ति में रहकर भी सबसे अलग मृत्यु के यथार्थ मे सूझने का दुर्वह क्षण और चौथी बार जो अभी बहुत ही हाल की बात है और जिसका घटना-क्रम अभी मस्तिष्क मे सुव्यवस्थित-सा है, बाहर से आए हुए अपने एक सह-कर्मी बन्धु श्री वीरेन्द्र सिंह जी की क्लान्ति को दूर करने के लिए तथा उनसे भी अधिक क्लान्ति सचित करनेवाले अपने एक अन्य मित्र की बरसो की राजनैतिक जडता मे चैतन्य सचार करने के लिए हम लोग नये सरकारी फार्म कुटुलिया मे नाव पर आसीन होकर बीहर और बिछिया के संगम तक आये और पुन: मौसम के भले-बुरे जितने भी फल हो सकते हैं, उनके साथ आवश्यकता से अधिक न्याय करते हुए और प्रवाह के विरुद्ध खेनेवाले साथ के दो बाहुबली मित्रो को उनकी सद्बुद्धि के लिये बार-बार धन्यवाद देते हुए चन्द्रमा के डूबते-डूबते फार्म के घाट पर वापिस आ लगे। यह सबसे पूर्ण अनुभव है।

यह बात अवश्य है कि स्वयं यहा के लोग शायद अभी तक इस मोहक नौका-विहार के सुलभ अवसर से ठीक वैसे ही अपरिचित हैं, जैसे मुग्ध यौवन अपने आकर्षण से स्वयं अपरिचित रहता है, नही तो यहाँ ग्रीष्म ऋतु मे जो चहल-पहल होनी चाहिए थी, वह क्यो नही है? ऐसा सर्वत्र होता है। हिमालय की छाया मे रहनेवाले उसकी गुरुता से और उसकी शुभ्र उज्ज्वलता से ऊब से जाते हैं, नियागरा के नीचे काम करने वाले मजदूर उस प्रचण्ड जल-शक्ति के उद्दाम वेग के प्रति बहरे हो जाते हैं और सागर की उत्ताल तरंगो में रात-दिन खेनेवाले मछुओ के लिये सागर का ज्वार एक व्यर्थ की परेशानी मालूम पड़ने लगता है, जैसे मनुष्य का आनन्द विस्मय मे सचित हो और पीडा उस विस्मय के उद्घाटन मे। जब तक वह किसी वस्तु को जानना चाहता है, जब तक उस चाहना मे उसे जो रस मिलता है, उसका वैसा ही उतार उसे

उसकी प्राप्ति में भी मिलता है। अस्तु, मैं एक और वियकित मित्र तथा अपने एक अद्भुत चिदानन्दी मित्र गोस्वामी जी के साथ जब शाम के झुटपुटे में कुटुलिया फार्म के लिये रवाना हुआ, तो सबसे पहले जो बात मेरे ध्यान में आई, वह यह कि कहीं यह प्रकृति में त्राण पाने की कामना पलायन तो नहीं है। तत्क्षण मुझे इसका समाधान मिला कि नहीं, यह तो उसकी वास्तविक साधना है, सहज सौन्दर्य से जो उसका सामान्य व्यावसायिक जीवन मे विश्लेष हो जाता है, उस विश्लेष का एकमात्र उपचार है। प्रकृति को जो जड कहते हैं, उनका अगाध चैतन्य मुझे दुर्भाग्यवश नहीं मिला है; पर इतना जानता हूँ कि मनुष्य जब अपने कार्य के भार से दब कर मुर्दा-सा हो जाता है, तब उस शव मे प्राण फूंकनेवाली जो शक्ति है, उसी का नाम प्रकृति है जिसका कि पतन भी मनुष्य का उत्थान कराता है और फिर मैं सोचता हूँ कि हमारे देश की संस्कृति नदियों की धारा से बनी है और इसीलिये वह नदी की धारा की ही भाति शाश्वत्, प्रवहमान और सदैव एक महान् सत्य के पीछे अनुधावनशील तथा सदैव नये-नये कूलों के लिये अपने रस-सिंचन मे दानशील रही है। हम आज भी अपने नव-निर्माण में इन नदियों पर आशा लगाये हुए हैं और आज की हमारी उद्योग-शक्ति भी नदियों के जीवन पर आधारित है। तो यदि हम इनके साथ अवसर मिलने पर भी कुछ समय के लिये परस्पर द्रवशील नहीं होते, तो यह हमारी बहुत बडी अकृतज्ञता है।

यह तो एक आत्मविश्लेषण हुआ। हम लोग ज्यों ही कुटुलिया फार्म पहुचे, त्यों ही फार्म के मध्य में अवस्थित चैत्य के हाल सरीखे नये सरकारी प्रयोग-भवन के समक्ष फार्म के अधीक्षक से भेंट हुई जो कि इतने बड़े फार्म और जाने कितनी मशीनों, मनुष्यों और जड-चेतन, स्थावर-जंगम जगत् के एकमात्र अधिष्ठाता होने के कारण काफी उल्लसित प्राणी दीख पड़ते थे और जिनके मुँह से फार्म का परिचय सुनने में बड़ा अपूर्व रस मिल रहा था, किस प्रकार उन्होंने दो हजार पपीते लगाये हैं, माल्टा, आम, नीबू, सन्तरा और अमरूद की पाँति की पाँति बिछाई है, सालाना कितने मन पपीता निकलनेवाला है और अमरूद की कितनी जैली अमेरिका भेजी जाने वाली है, इन सब का व्याख्या-सहित सस्वर पाठ उनसे सुनने का जिसे मौका मिला होगा, वह अपने को धन्य समझेगा। उस दिन उनकी स्निग्ध चर्चा में अगर कोई बाधक था, तो गगन में उद्भ्रान्त होकर घूमनेवाला चन्द्रमा जो बार-बार उझककर किसी दूसरी ओर हम लोगों का मन हठात् खीच लेता था। वीरेन्द्र सिंह जी तो खेतों की चर्चा मे डूबते क्या, धँसते चले जा रहे थे, पर कुछ तो सुल्तानसिंह जी द्वारा कुटुलिया फार्म की कई बार घूंटी पिलाई जाने की अतिरेकमयी परितृप्ति, कुछ अपने मित्र गोस्वामी जी की बीच-बीच मे परिहास-भरी उक्तियों

का खिंचाव और असल में उन्मद शशि के संकेतों की पुकार मुझे सबसे अधिक विवश कर रही थी कि मैं फार्म के देवता से करबद्ध निवेदन करूँ कि जहाँ तक प्रचार और प्रसार का प्रश्न है, उसके लिए इतना प्रवचन कम से कम सात पोथा भरने के लिए पर्याप्त है, पर अब हम लोगों को पपीतापुरी और ककड़ी-कुंज से त्राण दीजिए। आम के माटापुराण के अलावा भी संसार में कुछ ऐसी चीजें हैं जिनके लिए भूख मनुष्य को समय-समय पर सताती है और वह भूख जठरानल की जितनी भी महिमा गाई जाती हो, पर उसकी तीव्रतम ज्वालाओं को भी नगण्य करनेवाली मनुष्य की वह विराट् विश्वव्यापिनी भूख होती है जो कोई भी अटकाव-भटकाव निमिष भर के लिये भी बर्दाश्त नहीं कर सकती, पर मैं नहर की ऊँची नालियों के मेड़ पर चलते-चलते आकुलता से प्रतीक्षा कर रहा था कि नदी का तीर आ जाय और पपीतों का त्रैराशिक गणित एकबारगी विसर्जित करने का मौका मिले।

नदी का तीर अन्त में आया और मैंने नाव में पैर रखने से पहले तिवचा लिया कि भाटापुराण की यह एक भी पंक्ति नाव में उठाई गई तो मैं तो नहीं की शरण गहूँगा। इसके अनन्तर हम लोग नाव पर विराजे और गोस्वामी जी ने सबसे पहला काम यह किया कि साथ में जो ककड़ी, खरबूज, तरबूज, सन्तरे, पपीते और आम इन सब के अलावा कलाकन्द आये थे, उनके साथ न्याय करने का प्रस्ताव रखा। पहले तो इस पर विवाद हुआ कि शुरू किससे किया जाय। आम के प्रति मेरा कुछ पक्षपात सदा से रहा है। मैंने उसे अन्त में रखने को कहा जिसमें 'मधुरेण समापयेत्' हो और तरबूज से शुरू हुआ। पर वल्लाह ! क्या तरबूज आये थे ! लाने वाले पण्डित को एक-एक ग्रास के साथ पार्लियामेण्टरी भाषा में धन्यवाद देते हुए हमने जब किसी प्रकार कलाकन्द के सहारे उनको गले के नीचे उतारा तो ककड़ियों पर हम लोगों ने दांत चोखे किये। अन्त में जब हम लोग आम पर पहुँचे तो लगा कि कुंडलिया नाम की समस्त सार्थकता इन आमों में सम्भृत हो गई है और अभी दो दिन पहले कबीरदास जी की समाधि के ठीक सिरहाने जाने कब के पाले-पोसे आम की कच्ची केरियों से भी जो मेरे दाँत नहीं खट्टे हो सके थे, वे दांत रीवा चौहट्टा के इन पके आमों से खट्टे हो गये—खट्टे क्या हो गये—रंग गये और गोस्वामी जी ने तो दूसरी बार दाँत लगाते ही जो अबाध गति से बुन्देलखण्ड की हरबोली जबान में समस्त आमवालों की स्तुति शुरू की और धीरेन्द्र सिंह जी ने भी सौदा खरीदने में फौज से सम्बोधित होनेवाले सरदार नामधारी व्यक्तियों की कथाएँ इसी प्रसंग में शुरू की तो हँसते-हँसते हम लोग लोट-पोट होने लगे और नाव भी काफी दोलायमान हो उठी।

इतने में मैंने देखा कि चाँद, जो शायद शुक्लपक्ष की सप्तमी का चाँद

था, अब भागना चाहता है। उसकी कान्ति काफी पीली पड़ने लगी है और अंग्रेजी में जिस 'वैनिंग मून' (क्षीयमाण शशि) की पीली छाया में कवियों द्वारा सदैव प्रेम की पीर पाली गई है, वही हम लोगों को भी विनोद से सहसा खींचकर गहन चिन्तन की ओर प्रवृत्त करने लगा। मैंने विरह और संयोग दोनों के उत्कर्ष के सघन क्षणों में चन्द्रमा को निहारा है और उसको निहारा है जिसके अनेक रूपों में, चैत-वैशाख की उजली और सुहावनी पूर्णिमा की धवल घाटी में वनराज-साविहरण करनेवाला अमृत कलश के समान स्फीत शशांक, गौरी की नख-ज्योति सरीखी द्वितीया की कला में जगत् की वन्दना को पाकर संकुचित जगदीश्वर का भाल—शृंगार बालचन्द्र, कृष्ण पक्ष की अष्टमी के नक्षत्र खचित आकाश में नीरव अन्धकार में यकायक वर्ड्सवर्थ को अरब मरु में मूर्छना बरसानेवाली बुलबुल के तान की भांति, अधखिले बेले के विकास के प्रथम हुलास की भांति और प्रतीक्षा की हताशा में प्रेयसी के नूपुर की परिचित पर नई झनकार की भांति विस्मय के गर्भ से साधना के गह्वर से आ निकलने वाले व्रजचन्द्र के उदय का प्रतियोगी महायोगी ताराधिप चन्द्र, कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के प्रभात में अपनी अन्तिम कला लुटाने की उतावली में समय से पहले ही विदा होने के लिए प्रस्तुत अत्यन्त सूना, पर जगत् की दुरन्तगति का प्रतिबोधक कुनबोध चन्द्र। मैंने संयोग में उद्दीपन नहीं पाया, विप्रलम्भ में ज्वाला नहीं पाई। एक प्रकार से मेरा मन चन्द्रमा को देखकर बराबर अपने अन्य सभी बन्धनों से विलग हो गया है मानो चन्द्रमा को छोड़कर मन का कोई दूसरा स्नेह बन्धन ही न हो। वह कौन-सा आन्तर हेतु है, जो इस पार्थिव मन को उस अपार्थिव ज्योति से व्यतिषक्त कर लेता है, मैं स्वयं नहीं जानता।

चन्द्रमा की चांदनी छत पर, खेत में, प्रासाद में, कुटिया में सब जगह देखी है, पर जो शोभा उसकी नदी के वक्षस्थल पर है, वह अन्यत्र नहीं; क्योंकि चन्द्रमा समुद्र का पुत्र है। वह भी उसी जलतत्त्व से बना है जिसको प्राप्त करने के लिए नदियां अहर्निश व्याकुल रहती हैं। बीहर और बिछिया के संगम तक पहुंचते-पहुंचते सप्तमी का चन्द्रमा थक चला था और रीवा के महाराज का राजप्रासाद तथा राजगुरु की हवेली की धवलिमा काफी धुंधली होती जा रही थी। अब वापिस आने में काफी परिश्रम था, पर बाजी लगाई गई कि देखें चन्द्रमा पहले डूबता है कि नाव पहले घाट पर जा लगती है। बाजी तो निश्चय ही हारी हुई थी; क्योंकि तीन मूर्तियां विशुद्ध रूप से सांख्य के पुरुष की भांति निश्चल द्रष्टा बनी हुई थीं। केवल छतरपुर के एक लम्बे दोस्त की लम्बी बाहें काम में आईं, जो रह रहकर हम लोगों की शाबाशी से खीझ उठते थे और बाजी न तो हारी गई, न जीती गई, बराबर रही अर्थात् नाव किनारे लगी कि चन्द्रमा डब्ब से डूब गया और शायद वह डूबा

उसी ककड़ी-कुज मे जहा पर भाटा पुराण का आख्यान समाप्त हुआ था।

रेवा के साथ जुडी हुई मद-गजयूथो की उन्मद जलक्रीडा उनसे भी अधिक उन्मद, महिष्मती और त्रिपुरी सरीखी समृद्ध राजधानियो की त्रिपुर-सुन्दरियो की तरगित अंग-विभ्रमो से नदी की धारा को भी मात देनेवाला उद्दाम विलास, यौवन के चरम आनन्द की गति से रूप पानेवाले रेवा के तलशायी नर्मदेश्वरो की अपार शिवमयी रसानुभूति और इन सब की स्मृतिया एक-एक करके इस विहार में मन मे भर आई और जिस किसी ने उस स्मृति मे इस नगरी का नाम रीवा रखा था, उसके प्रति मन कृतज्ञता से आनत हो आया। काश, इसके उस प्रतिक्षण आमोद देनेवाले रूप को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न होता, सरस कदली श्रेणिया होती, निचुल और वेतस के निकुज होते, सप्तपर्ण की सुरभि से पागल समीर होता, हरिश्चन्द्रिका धौत स्फटिक के घाट होते, हसाकार नौकाये होती और नटराज की स्वरूपा-रचना में कला का नर्त्तन होता, पर वह नही है। जाने दो, स्मृति तो बनी हुई है और ऐसे ही क्षणो को पाकर तो मनुज के अनन्त दुःखो की हेतु यह स्मृति भी वरदान बन जाती है।

कलचुरियों की राजधानी गुर्गी

वर्तमान विन्ध्य प्रदेश जिन दो प्राचीन जनपदों के एक संयुक्त रूप में आज अपनी भौगोलिक सीमाओं के भीतर बंधा हुआ है, उनमे वत्स जनपद बघेलखण्ड है और चेदि जनपद बुन्देलखण्ड है। वैसे तीसरी शताब्दी से लेकर तेरहवी शताब्दी तक चेदिवंशीय राजाओं का प्रसार वत्स जनपद में ही अधिक रहा और यहीं कालान्तर मे कलचुरी, कटच्छुरी, डहरिया या हैयवंशी कहलाते रहे। इनकी दो शाखायें थी। एक शाखा का प्रसार दक्षिण तक फैला हुआ था और उसकी राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर के पास) मे थी, और दूसरी शाखा का प्रसार काशी और काशी से भी उत्तर गोरखपुर तक था। इसकी राजधानी सम्भवतः वर्तमान गुर्गी या गोलकी थी। इसी वंश मे गांगेय देव और कर्ण देव अत्यन्त प्रसिद्ध और कला-प्रेमी सम्राट् हुए हैं। गांगेय देव परमारवंशी धाराधिपति भोज के समकालीन हैं, सम्भवतः उनसे पराभूत भी हुए थे। ये गांगेय चालुक्य सम्राट् तैलप के सम्बन्धी थे और दोनो मिलकर भोज को हरा नहीं सके थे और इसीलिए आज तक जन-उक्ति चली आती है—"कहाँ राजा भोज, कहा गंगऊ तेली" (क्व नृपतिर्भोजः क्व गाङ्गेयनृपतैलपो)। इन्हीं कलचुरियो ने समय के प्रवाह मे अपनी राज्यश्री अपने प्राचीन मित्र और सम्बन्धी चालुक्यो की एक शाखा बाघेलों को चुपचाप समर्पित कर दी और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध मे बंध गये। गुर्गी कलचुरियों की कला-साधना की उसी प्रकार रंगभूमि बनी, जिस प्रकार चन्देलो के लिए खजुराहो बना। गुर्गी की कला की झलक रीवा के संग्रहालय मे स्थित हर-गौरी, द्विशिरकीर्ति-मुख, वराह, जैन-युगल और नृसिंह की विशाल और प्राणवान प्रतिमाओं मे तथा रीवा के महाराज के किले के पुर्तारहा दरवाजा मे मिलती है। पर उसकी विपुल सम्पत्ति रायपुर कलचुरियान की गलियों मे, घर की दीवारो मे, यहां तक कि नाबदानो मे तथा गुर्गी महसाव के सुविस्तृत खण्डहरों मे बिखरी पड़ी हुई है। अभी बहुत हाल ही मे इनकी रक्षा और संग्रह का कार्य हाथ मे लिया गया है। इसी कार्य को देखने के लिए मैं एक दिन अपने मन्त्री के साथ वहां जा निकला। कलचुरि कला की प्रतिभा का परिचय मुझे अमरकण्टक के

पुराने मंदिरों, सोहागपुर के विराटेश्वर मन्दिर तथा चन्दरेह के स्थापत्य मे तथा रीवा में स्थित सग्रह के शिल्प-सौन्दर्य में कुछ-कुछ मिल चुका था और खजुराहो से उसकी समानता की झाई का भी आभास मिल चुका था। इसीलिये जब मैं गुर्गी गाव में पहुंचा और वहा पर बटोरकर रखी गई टूटी-फूटी-छोटी-बडी कला-कृतियों को बहुत समीप से जाचने लगा तो मेरा ध्यान सबसे पहले एक कंकालिनी काली मूर्ति की ओर गया जो अपने अंकन में यथार्थवादी कला की सूक्ष्म से सूक्ष्म पहचान को मात दे रही थी और याद आया कि खजुराहो के जार्डिन संग्रहालय मे ठीक ऐसी ही कंकालिनी मूर्ति है, जो चौंसठ योगिनी मन्दिर से शायद लाई गई है। अन्तर केवल इतना है कि जहा खजुराहो में नृत्य-मुद्राओं में अप्सराओं की विविध भंगिमायें अंकित हैं वहां गुर्गी मे स्वय शिव की विविध मुद्रायें अकित हैं। शिव के साथ-साथ शिव के गणो की तथा गणेश की *अत्यन्त सुन्दर अष्टभुजी मूर्ति यहां गुर्गी के खण्डहरों मे पड़ी हुई है।* पुष्प-अलंकरण प्रायः सदृश हैं और विच्छित्ति का सौन्दर्य कहीं अधिक है। भावों के आन्तरिक मर्म के अकन में शायद उतनी सफलता गुर्गी की कला को नहीं मिली है, पर उसमें समन्वय अद्भुत है। इसीलिए उसकी हर-गौरी प्रतिमा मे शिव और पार्वती की मुख मुद्रा मे गुप्त-युग की सौम्यता, खजुराहो की गम्भीरता और भुवनेश्वर की आनन्द-तन्मयता, एलुरा की कल्पना-विशालता और अजन्ता की सूक्ष्म भाव-व्यजना का अपूर्व समन्वय है। लगता है, शिव मे शुग-काल के यक्ष अजन्ता के अवलोकितेश्वर, गुप्त-काल के विष्णु, एलुरा के नटराज और खजुराहो के सौन्दर्य-विगलित कन्दर्पेश्वर सब एक में मिलकर अत्यन्त स्थायी आनन्द-मुद्रा मे हर-गौरी बन गये हों। गुर्गी में तीन-चार घण्टे धूप के प्रखर होते तक हम लोग परिक्रमा लगाते रहे। कई बार मूर्तियो के भग्न सिर हाथ मे उठा-उठाकर हम उनको धड़ से जोडकर पूरी करने की कोशिश करते रहे। सारा स्थान बावड़ियो, महलों, मन्दिरो के भग्नावशेषो से अभिव्याप्त है और इस स्थान के वैभव की स्मृति रागिनी यहाँ की बरेज (पनबाड़ी) और उसके पास का कमलो से भरा हुआ सरोवर अब भी सुनाता है। यहाँ की बरेजों से पान बहुत दूर तक जाता है और उनको सींचनेवाले घड़ो के निशान पेशेवर जलवाहकों के कन्धे पर जाने कितने युगों से गहरे पड़े हुए हैं। तृणों से ढकी हुई बरेज के अन्दर गीली मिट्टी से दबाई हुई पान की लता जो एक-एक क्षण की सम्हाल और स्नेह-स्पर्श के *फूलसनी हुई म्रियमाण कला परम्परा की सूखती हुई लता की ओर* करुण संकेत करती है और इन पान की लताओं को सींचनेवाले स्निग्ध श्यामल अनपढ़ कहार कमल के सुरभित जल के बराबर संक से उत्फुल्ल होकर जब अपनी बत्तीसी चमका देते हैं तो लगता है कि वे हम शिक्षितो का उपहास कर

रहे हो, जिनके ऊपर इतिहास की बरेज के सीचने का भार हो, और जो सीचने की कौन कहे, झुलसी हुई बरेज देखने की भी सुधि नहीं रखते।

हमारे साथ एक और ऊँचे अधिकारी थे। उन्होंने कमल नहीं देखा था और जब मैंने एक-एक दल फैलाकर कमल का विकास उन्हें दिखाया, कमल का किंजल्क और कमल की केसर उन्हें दिखलाई तो वे चकित रह गये। एक-एक दल खोलते समय किस प्रकार रंग उत्तरोत्तर गहरे से हलका होता चला जाता है, किस प्रकार वर्ण और सुरभि की सिलवटों के भीतर तक पहुँचते-पहुँचते एक अपूर्व कोष का उद्घाटन होने लगता है, इसकी उन्हें जानकारी नहीं थी और यह तो उनकी सच्चाई थी कि उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया कि उन्हें जानकारी नही थी। पर सच तो यह है कि आज हमारे देश मे शिक्षा के ऊँचे से ऊँचे स्तर तक पहुँचे हुए लोग अपने देश के सौन्दर्य के प्रतीक कमल के बारे में और साथ ही देश के सौन्दर्य के अन्तरंग के बारे में जो जानकारी रखते हैं, वह शून्य के बराबर है या ऐसी है कि उसका अभाव होना अधिक श्रेयस्कर होता। जिस प्रकार कमल मे रंग की शोखी नही होती, गन्ध की मादकता नही होती, स्पर्श का छुईमुईपन नहीं होता और जिस प्रकार उसका सौन्दर्य बाहर से भीतर की ओर अधिक विस्तृत होता चला जाता है और जिस प्रकार उसके गर्भगृह मे सुनहले केसरो के बीच मे अलि अपना स्वर खो देता है, उसी भारतीय कला का सौन्दर्य भी वर्णाढ्यता मे नहीं, उद्दाम विह्वलता मे नहीं, स्पर्श न सहने-वाली सुकुमारता में नही और बाह्य आवरण की मोहकता मे नही, बल्कि रंग के एक क्रमिक घुलन मे, गन्ध के स्थायित्व मे, स्पर्श की असम्पृक्तता में तथा अन्तरोन्मुखीनता में और आनन्द की साधना में है। इसलिये कला की देवी और उनके वाहन का डासन-असन केवल यह कमल ही है और कोई भी अलंकरण या कोई भी शृंगार उसके बिना पूरा नही उतर सकता, क्योंकि वह विराट् पुरुष की नाभि से निकले नीहारिकाओ के मन्थन से उठे भुवन कोष का पर्याय है। ज्ञान वेद की प्रथम पीठिका है, स्रष्टा के प्रथम योग-साधना में ध्यान का एकमात्र आधार है, कला-साधना मे कला के शिव का एकमात्र उपहार है और साहित्य के विष्णु का वह नेत्र है। कमल थिर जल में खिलता है, भारत की कला सुख-शान्ति का सदेश सुनाती है, कमल के प्रत्येक अवयव मे एक अनुहारता है, एक समानुपात है और एक शाश्वत माधुर्य है, इसीलिये उसकी जैसी मधु मधुपो को अन्यत्र मिल नहीं पाती और लगभग यही बात भारतीय कला के सम्बन्ध मे भी की जा सकती है, जो समन्वय, समस्वरता और शाश्वत माधुर्य मे अपना कोई जोड़ नही रखती।

कमल और भारतीय कला के इस सादृश्य को स्मरण करते-करते सहसा मेरे मन में यह बात उदित हो आई कि हमको आज तक जिस मध्य युग की-

विलासिता, ह्रासशीलता और हीनता का पाठ कक्षा सात से लेकर एम० ए० तक पढ़ाया जाता रहा है, उससे क्या हमारी नई पीढ़ी की शिक्षा का उद्धार नहीं होगा। गुर्गी जैसी जगहों में जाने पर ही यह पता चल सकता है कि जिसे मध्ययुग कहा जाता है, वह मध्य युग जो कि छठी शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक फैला हुआ है, वह मध्य युग अपकर्ष का युग नहीं है। किसी परिस्थितिवश राजनैतिक दुरवस्था हो जाने से ही और वह भी केवल कुछ मुख्य केन्द्रों में, देश की समग्र प्रगति का अवमूल्यन नहीं किया जाना चाहिये। देश की सांस्कृतिक धारा ने जो बहुमुखी प्रगति इस मध्य युग में की है, वह इतिहास के लिये एक गौरव की वस्तु है। ऐसा जरूर लगता है कि कहीं तार आकर एक-दम टूट गया है और एक बहुत बड़ी रिक्तता आ गई है, विशेषकर के शिल्प और स्थापत्य के क्षेत्र में, क्योंकि सत्रहवीं शताब्दी के बाद के मन्दिर और शिल्पों में एक विचित्र-सी विद्रूपता और एक वर्णसंकर परिलक्षित होने लगा। जो अन्त. सौन्दर्य का सहज भारतीय कला का था, वह स्थूल बाद में इतना प्रबल आग्रह भर गया कि सत्रहवीं शताब्दी के बाद के सफेदी किये हुए मन्दिर एक निर्जीव वस्त्र-आवृत शव की तरह लगते हैं। साथ ही बड़ा दर्द होता है, जब मूर्तियों को हम खण्डित और मन्दिरों को ध्वस्त देखते हैं, प्रकृति के हाथों में नहीं, बल्कि बर्बर बलात्क्रमक मनुष्य के हाथों से, जो मनुष्य यह विश्वास नहीं कर सके कि कला और धर्म के बीच समन्वय हो सकता है तथा धर्म मानव-जीवन के परम आनन्द के लिये है और उसके जीवन का उल्लास है, केवल एक दुराग्रह और कठोर नैतिक नियन्त्रण का अनुशासन नहीं।

ुग की कला प्रेरणा सम्भव ही नहीं है, प्राय: यह मानकर चलते हैं। दुर्भाग्यवश से आलोचक ही भारत में अब तक छाये रहे हैं, जिससे मध्य युग की कला का वास्तविक मूल्यांकन नहीं किया जा सका है। ह्रासोन्मुखता का नारा इतना बुलन्द रहा है कि बहुत कम लोगों ने यह पहचानने की कोशिश की कि मध्य युग मे हमारे राष्ट्र की दृष्टि सूक्ष्म विश्लेषण और गहन जीवन-दर्शन की ओर मुडी थी, इसीलिए प्रत्येक क्षेत्र मे एक विस्मयकारी विस्तार दिखलाई पड़ता है। चाहे यह दर्शन का हो, साहित्यशास्त्र का हो, गणित का हो, आयुर्वेद का हो या कला का हो। अकेले गुर्गी ऐसे आलोचको के लिए बहुत बड़ी चुनौती है। केवल हर-गौरी की प्रतिमा का चित्र मात्र देखकर डॉक्टर सुनीति कुमार चटर्जी ने मेरे पास पत्र लिखते हुए अत्यन्त मुक्तकण्ठ से आशंसा की थी कि चेदि-शैली के उत्कर्ष का यह एक नमूना है और हर-गौरी जैसी कितनी असंख्य प्रतिमायें गुर्गी मे लेटी हुई हैं। यह बात बिना वहा गये समझी नही जा सकती।

आज गुर्गी गाव के आस-पास के लिए उसका गौरवशाली इतिहास एक भूत की कहानी जैसा अरूप रह गया है। गुर्गी के शिलालेख रीवा संग्रहालय मे जो गाथा कहते हैं, उसका कितना धुंधला संस्करण वहाँ की जनश्रुतियों में उतर आया है, यह देखकर मन मे यह भी विचार आता है कि समय बड़ा कठोर होता है। छ -सात सदियों का व्यवधान भी कमनीय से कमनीय गौरव-कुसुम की एक-एक पंखुडी उघेड़ डालता है और डाल मे एक सूखा वृन्त मात्र छोड़ देता है। उस वृन्त के सहारे समग्र कुसुम की परिकल्पना करने बैठता है इतिहास, पर उस परिकल्पना के बिना नये कुसुम रूप और रंग नहीं पाते, यह भी एक ध्रुव सत्य है।

समय और इतिहास के इस द्वन्द्व का ध्यान करते-करते मैं जब गुर्गी से दुपहरी में रीवा के लिए प्रस्थित हुआ तो कमल के फूलों की भेंट आई और उन कमलो को रास्ते-भर निहारते-निहारते और सहलाते-सहलाते हम उस प्राचीन राजधानी की राजलक्ष्मी की वन्दना करते रहे जिसने कला की देवी से ईर्ष्या नहीं की और जिसने अपने कमल सुन्दरियों के हाथों मे नही सजाये, बल्कि शारदा के अनुगामी हंसों के चंचुपुट में खिलाये। उस राजलक्ष्मी का स्वतन्त्र भारत में जो पुनरागमन हुआ है, उसमें उसकी दानशीलता का प्रत्यागमन हो, इस कामना से हमारा हृदय अब भी पुलकित है।

रुपहला धुआँ

जिसने जल-प्रपात नहीं देखा होगा, वह इस शीर्षक की हँसी उड़ाये बिना न रहेगा और वैसे तो एक फुट पानी गिरे तो भी, सहस्र फुट पानी गिरे तो भी, *पानी का एक सूत गिरे तो भी और पानी का पहाड़ गिरे तो भी, प्रत्येक दशा* में पानी का गिरना जल-प्रपात ही कहा जाता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि हर-एक प्रपात से धुआँ नहीं निकलता, हर एक धुआँ रुपहला नहीं होता, पर मैं जिस प्रपात के बारे में बयान करने जा रहा हूँ, उसके रुपहले धुएँ के जादू में अभी तक मैं अपने को अभिभूत पाता हूँ। नियागरा और गिरिसप्पा के जो वर्णन पढ़े थे, उनमें से बहुत-कुछ अनुमान लगाकर इस प्रपात को देखने गया था। यह प्रपात रीवा से तीस-तैंतीस मील दूर है। रीवा से सिरमौर सड़क जहाँ खतम होती है, वहाँ से लगभग पाँच मील है और इसका नाम आसन्न गाँव के नाम पर चचाई का कूड़ा है। यह बीहड़ वहीं पर है। नदी के उस पार चचाई गाँव है और यहाँ लगभग ३७५ फीट का बीहड़ प्रपात बनाती हुई नदी एक मनोरम घाटी में प्रवेश करती है। मैं इस जगह वसन्त, ग्रीष्म, पावस और शरद इन सभी ऋतुओं में और प्रातःकाल दुपहरी, सन्ध्या और आधी रात इन सभी वेलाओं में गया हूँ और कई पार्श्वों से इसको निहारने का अवसर भी मुझे मिला है, पर जब-जब निहारा है, और जिस-जिस पार्श्व से निहारा है, तब-तब बराबर मेरी आँखें जलसीकरों की शुभ्र धूम्रराशि से नयी शीतलता पाती रही हैं।

पहली बार जब मैं गया था, तब फगुनहट बयार लहकार मार रही थी और इस धुएँ की ढेरी को इधर-उधर बिखराने में अपार उत्साह दिखा रही थी। धरती तपने लगी थी, नदी विरह की कृशता में अत्यन्त क्षीण हो चुकी थी और दायें-बायें पार्श्वों को एकदम फैलाकर छलाँग भरनेवाला जल-प्रपात बीच में सिमटकर एक परवलय बनाता हुआ नीचे कुण्ड की ओर जा रहा था। हरियाली प्रायः विदा ले चुकी थी और जिस पलाश की वसन्त में फूलने की बड़ी बड़ाई होती है, उस पलाश के भी दर्शन वहाँ कहीं नहीं थे। आकाश सूना पड़ा था, धरती वीरान लग रही थी। पता नहीं किस जाति के कँटीले झाड़ वहाँ पर फूलने लगे थे, जो ऐसा लगता था कि धरती की सुप्त

व्यथा के शूल की तरह से उकस आये हों, पर ये शूल असंख्य थे और इन शूलों में छोटे-छोटे फूल भी असंख्य थे। मैंने देखा है, गुलाब को छोडकर प्रत्येक कँटीले पेड़ में जो फूल आते हैं, जो प्रायः पीले होते हैं और प्रायः बहुत छोटे होते हैं जैसे संसार के समस्त फूलों का उपहास करने के लिए प्रकृति द्वारा सजाये गये विदूषक हों और इस आकाश की अकलंक नीलिमा के प्रसार के नीचे कुण्ड के आकाश से भी नीले जल की श्यामलता के ऊपर तथा धरती की धूसरता और इन झाड़ों की हरियाली और फूलों की पीतिमा के परिपार्श्व में चांदी का धुआँ उमड़-घुमड़ रहा था। धुआँ का एक रूप बादल भी है और वह भी कभी-कभी अपना सर्वस्व दान करने के अनन्तर शरद के आकाश में रजतखण्ड बन जाता है, पर उसमें शायद प्रत्येक कण में से उमडनेवाली प्राण-शक्ति उतनी नहीं होती जितनी इस धुएं में से मुझे निकलती हुई साफ-साफ अनुभव करने को मिली।

मैं घहरते हुए सावन-भादों में भी वहाँ गया हूँ और मैंने इस प्रपात के उद्दाम यौवन के उस महावेग को भी देखा है जो सौ-डेढ़ सौ फीट की अपनी चौड़ी धारा को प्रबल भुजाओं में धरती के चटकीले धानी आँचर में उफनाते सावन को कस लेने के लिए व्याकुल हो जाता है और मैंने देखा है कि जब अम्बर के महलों में घनालिंगन करनेवाली सौदामिनी धरती के इस सौभाग्य की ईर्ष्या में तड़प उठती है, तब उस तड़पन की कौंध में इस प्रपात का उमड़ाव फूलकर दुगना हो जाता है।

शरद की शुभ्र ज्योत्स्ना में जब यामिनी पुलकित हो गयी है और जब इस प्रपात के यौवन का मद खुमार पर आ गया है और उस खुमारी में इसका सौन्दर्य सुरतान्त में शिथिल पड़ी मुग्धा के वदनमण्डल की भाँति और अधिक मोहक बन गया है, तब भी मैंने इसे देखा है और तभी जाकर मैंने शरदिन्दु को इस प्रपात की शान्त तरल स्फटिक-धारा पर बिछलते हुए देखा है।

मैंने कई बार सोचने की कोशिश की है कि सरिताओं और पर्वतों के सन्देश और गायन से मुखरित देव-वाणी इन प्रपातों के सौन्दर्य के प्रति क्यों उपेक्षित भाव रखती आयी है। झरनों के कल-निनाद-मात्र का संकेत करके वह प्रकृति प्रेम में सनी कविता क्यों उपराम पा गयी है और वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति की सौन्दर्य-दृष्टि प्रपात की शोभा को क्यों भूल गयी है। शायद इसलिए कि वह कठोर पर्वत की तरह ऊँचे उठने का अभिमानी नहीं है या इसलिए कि सरिता का पतन होते हुए भी सरिता के ऊर्मिला प्रेम प्रवाह से प्रपात अत्यन्त अनभिज्ञ है, शायद इसलिए कि उसके वर्णन से देवराज के प्रमुख पुरुष मेघ की हेठी हो सकती है या इसलिए कि वह मनुष्य के पतन में भी उन्नति की आकांक्षा का प्रतीक है या कि वह दलित धरती का उच्छ्वास है या अपनी दुर्बलता में भी मनुज की देवताओं से स्पर्द्धा का प्रबल उफान है। कारण चाहे

जो भी हो, पर कवि की, और विशेष रूप से संस्कृत के कवि की इस अद्भुत शोभा के प्रति उपेक्षा मुझे बहुत अखरती रही है। मुझे याद आया कि डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने एक कविता धाराई पर लिखी है और उन्होंने कहीं पर यह भी लिखा है कि प्रकृति का पतन भी कितना सुन्दर होता है। मैं केवल इतना और जोड़ दूँ कि पतन कहीं भी हो, उसका पथ हमेशा 'स्वीट, प्रिम्परोज डाउनवर्ड' (मधुर, गुलाबी निम्नाभिमुख) होता है और यह और अधिक मनोहर हो जाता है, जब यह उस सीमा तक पहुँचा दे, जहाँ से ऊँचे उठने की सच्ची प्रेरणा आप से आप उठे। और प्रकृति का पतन इसलिए नही मनोहारी होता कि उसमे कोई अपनी निजी विलक्षणता है, बल्कि इसलिए कि उसमें मनुष्य को अपने स्वभाव का तादात्म्य मिलता है और मनोहरता का आस्वादन करनेवाला स्वयं मनुष्य होता है। देवता को या देवता के पीछे दौड़नेवाले ऊर्ध्वमुख, ऊर्ध्वरेता, नीतिवादी, सन्तवादी साहित्यकार को प्रकृति के इस पतन से कोई सहानुभूति शायद नही होगी, पर जो मानव-मन की दुर्बलताओ से प्रीति रखना है और उन दुर्बलताओ मे भी जो क्षमता देख सकता है, जो मनुष्य की दुर्बलताओं को चुपचाप क्षमा करनेवाली माता धरित्री की ओर देखकर चलता है, देवताओं के आकाश की ओर बराबर नही ताकता रहता है, उसे यदि कही मनुष्य की आकांक्षा का ज्वार मिलेगा तो जल-प्रपात के ही वैभव मे, उसे यदि घोर दुर्दिन की झड़ी मे कजली की तान उमडानेवाले झूले का आनन्द मिलेगा तो प्रकृति के इसी चांदी के हिंडोले मे।

पहली बार जब मैं गया था तो वहाँ ठहरने के लिए कोई स्थान बना नही था और इसलिए खडी दुपहरी मे चट्टानो की ओट मे ही छाँह मिल सकी थी। ये भूरी-भूरी चट्टानें पानी के आघात से घिस-घिसकर काफी समतल बन गयी हैं और इनका ढाल बिलकुल खड़ा है। इन चट्टानो के कगारो पर बैठकर लगभग सात-आठ हाथ दूर प्रपात के सीकरो का छिड़काव रोम-रोम से पिया जा सकता है। इन शिलाओ से ही कुण्ड मे छलांग मारनेवाले धवल जल-बादल पेंग मारते-से दिखाई देते हैं और उनके मन्द गर्जन का स्वर भी जाने किस मलार के राग मे चढ़ता-उतरता रहता है कि मन उसमे खो-सा जाता है। एक शिला की शीतल छाया मे कगार के नीचे पैर डाले मैं बडी देर तक बैठे-बैठे सोचता रहा कि मृत्यु के गहन कूप की जगत पर पैर लटकाये भले ही कोई बैठा हो, किन्तु यदि उसे किसी ऐसे सौन्दर्य के उद्रेक का दर्शन मिलता रहे तो वह मृत्यु की भयावह गहराई भूल जायगा। मृत्यु स्वयं ऐसे उन्मादी सौन्दर्य के आगे हार मान लेती है, नही तो समय की कसौटी पर यौवन का गान अमिट स्वर्ण-रेखा नही खींच सकता था। मिट्टी मे खिले हुए गुलाब की पखुड़ियाँ झर जाती हैं और उनको झरते देख मृत्यु हँसना चाहती है, पर उस मिट्टी मे से जब गुलाब

की गन्ध ओस पड़ने पर उसाँस की भाँति निकल पड़ती है, तब मृत्यु गलकर पानी हो जाती है। मैं सोचता रहा कि यहाँ जो अमर-अमर सौन्दर्य उमड़ा चला जा रहा है, वह स्वयं विलय का सौन्दर्य है—विलय मटमैली धारा का शुभ्र जल-कणों में, शुभ्र जल-कणों की राशि का शुभ्रतर वाष्प में और वाष्प का सौन्दर्य के रस-भरे जूही-लदे घुँघराले और लहरीले चूड़ापाश में। यह चूड़ापाश जूहियों से इस तरह सज जाता है कि उसके निचले छोर की श्यामलता भर दिखाई पड़ सकती है, एक अद्वितीय चाँदनी उसे ऊपर से छाप लेती है। मैंने देखा कि साँझ हो आयी है। सूर्य की तिरछी किरणें जाते-जाते इस सौन्दर्य का रहस्य-भेदन करते जाना चाहती हैं। पर जैसे प्रपात जाने कितने कवच-मन्त्र-उच्चारण करता हुआ और मुखर हो रहा है और अपने को इस प्रकार समेट रहा है कि रवि-रश्मियों का प्रयत्न आप से आप विफल हो रहा है। इस बार घाटी में उतरने का अवसर नहीं मिला था, क्योंकि आधे घण्टे के भीतर क्योटी प्रपात की भी एक झलक लेने की बलवती इच्छा उकसने लगी थी। इसलिए दिवस के यथार्थ में वसन्त के वैभव के बीच अपनी कृशता, अपने एकाकीपन और अपनी उपेक्षा में उस विहरी महागायक के स्वर की गूँज मन में भरते हुए और उस गूँज में विन्ध्य के अन्तर्मन की पुरका की अनुगूँज को भी पाते हुए मैं क्योटी के लिए लौट पड़ा था।

दूसरी बार बड़े-बड़े अफसरों के साथ वर्षा में वहाँ जाने का अवसर मिला और साथ में मोटे, दुबले हर-एक डिजाइन के लोग थे। अब की बारी नीचे उतरने की हमने ठानी और काफी रपटीले रास्ते से डाक-बँगले के पास से हम लोग उतरने लगे (डाक-बँगला अब तक बन चुका था और उसका उद्‌घाटन भी शायद हो चुका था, नहीं तो हमें ठहरने को कैसे मिलता?)। साथ में हमारे एक मोटे अफसर नीचे उतरने की अनुपयोगिता पर काफी लम्बी-चौड़ी स्पीच देने लगे, पर हम तो मोटे नहीं थे और उनकी मोटी स्पीच हमारे गले उतर भी नहीं सकती थी। हम नीचे उतरते गये। नये रास्ते बनाये और कहीं-कहीं रास्ता नहीं था तो शाखा पकड़कर नीचे उतरते गये और अन्त में हमारे नीचे साड़ी के छहराते हुए छोर की तरह नदी की धारा प्रकृति के श्यामल सौन्दर्य के उभार को सह्य न होने के कारण अलग—किनारे फेंक दी गयी-सी दीखने लगी। हरियाली सघन हो आयी और कहीं-कहीं उग्र कटिबन्धी फूलों की लहक-भरी गन्ध भी पुरवैया के साथ समस्त संज्ञा झकझोरती और विजड़ित करती चली आने लगी। घाटी से ऊपर आकर अब ठीक आमने-सामने प्रपात से आँखों की मुठभेड़ हुई तो फागुन वाला अवसाद और वसन्त वाली विरह-वेदना एकदम स्वप्न की भाँति तिरोहित हो गयी। प्रपात पागल हाथी की तरह चिंघाड़ रहा था। रह-रहकर जब बादल इस चिंघाड़ को बर्दाश्त न

करते हुए तड़प उठते थे, तब प्रपात का उन्माद और द्विगुणित होकर आस्फालित हो जाता था। हाँ, यह जरूर था कि चाँदी का धुआं कुछ तो मिट्टी की प्रीति के उमड़ाव के कारण, कुछ कजरारे मेघों की कजरारी छाया के कारण और अधिक तो विश्व के किशोर-किशोरी के श्यामल शृंगार में तन्मय होने के कारण कुछ अधिक साँवराने लगा था, पर इस साँवराई शोभा में भी रुपहले धुएँ की आभा बीच-बीच में चमक उठती थी, मानो उसके अन्तर के रूप का ज्वार मन्मथ के भी मन्मथ विश्व-मोहन के साँवरे रूप को चुनौती दे रहा हो। इस चुनौती में कौन जाने उस बरसानेवाली का मौन उपालम्भ न छिपा हो और उसी के रूप की प्रतिच्छाया पाकर यह प्रपात और अधिक स्फीत हो गया हो।

बड़ी देर तक मैं खोया रहा और जब चचाई को लेकर विभागीय कार्य की रूपरेखा की बातचीत अपने मन्त्री और सचिव से वहीं शुरू की गयी, तब जाकर मुझे अपनी असम्प्रज्ञात समाधि से विदा लेनी पड़ी और उसके बाद तो एकदम द्विजदेव के उनये चन्द्रमा से गिरते-गिरते द्विवेदीयुग के गद्यमय धरातल पर ठक से पाँव लग गये और मीमांसा होने लगी कि पर्यटकों के लिए चचाई का किस प्रकार प्रचार करना चाहिए। यहाँ हरित उद्यान बनाना चाहिए, बाँध बँधाना चाहिए, पन-बिजलीघर भी खड़ा करना चाहिए, आदि आदि। वहाँ मैं क्या सुझाव देता कि ये सब चीजें तो ठीक हैं, लेकिन खुद चचाई के लिए आज देखने की नयी आँख बनानी चाहिए, इसके स्वर को सुनने के लिए नये कर्णयन्त्र बनने चाहिए और इसके सन्देश को ग्रहण करने के लिए नया हृदय रोपा जाना चाहिए। यह सुझाव देता भी मैं तो नियम-विधि में बँधे हुए मालिक उसे क्यों सुनते? क्योंकि यह सुझाव नियमन के विकराल बन्धन की छटपटाहट से मुक्ति पाने के ही साधन हैं।

तीसरी बार जब मैं वहाँ गया तो चाँदनी रात थी। नौ-दस बजे तक संगीत के रस में अशतः और शेष अंश में चाँदनी के रस में तैरते हुए मन का जब चचाई के साथ साक्षात्कार हुआ तो जैसे एक विचित्र योग मिल गया हो। चाँद अपनी मस्ती पर, प्रपात अपनी मस्ती पर, रात अपनी मस्त पर, मन अपनी मस्ती पर और शेष सब चीजें एकदम विच्छिन्न। वहाँ पहुँचते ही मेरे दो तरुण मित्रों को छोड़कर दूसरे लोग एकाध घण्टे में ही सौन्दर्य निहारते-निहारते ऊबकर सो गये। ऊबते वे क्यों न? वे तो जिन्दगी का नेह सोखनेवाले तेलचटा ठहरे। उन्हें बाजार की सौदेबाजी से, लेन-देन शोर-गुल से और नकद-उधार से इतनी प्रीति हो जाती है, इतना मोह हो जाता है कि उनसे एक क्षण का बिछोह भी दुस्सह हो जाता है। ऐसे लोगों को प्रकृति के सौन्दर्य से जबर्दस्ती अनुराग कराना पड़ता है और यदि अनुराग करते भी हैं तो वे दूसरों का अनुराग विरस कर देते हैं।

खैर, वे लोग सो गये और मैंने सुख की साँस ली। ताश के पत्ते बिछे और जो मेरे दो तरुण मित्र थे, वे दोनों काफी भावुक और कला की सुकुमारता से काफी हद तक सँवारे हुए तरुण थे, दोनों की आँखों में सपनों की लाल डोरी थी और दोनों के हृदय मे उल्लास की अपार लहर थी। रमी जम गयी, पर रमी ब्याज मात्र थी। असल मे दृष्टि कभी चन्द्रमा की ओर जाती, कभी प्रपात की ओर, कभी प्रपात के चरणों मे बिछी नदी की ओर, कभी चाँदनी के रुपहले स्वप्न मे सोयी हुई धरती की सुख-शान्ति की ओर आँखें टिक नही पाती। प्रभात कब होने लगा, इसका पता-थाह तब लगा जब भोर की बयार घूमने निकली और उसकी अवाई मे पहली चिड़िया बोल उठी। मुझे ऐसा लगा कि भोर का यह सन्देश आनन्द-विजड़ित इन्द्रियों से सहा न जायगा और मैं यद्यपि तिमंजिले से नीचे उतरा, स्नान आदि के लिए, पर मोटर की पिछली सीट पर चुपचाप लेट गया, और गहरी नींद आ गयी। सूर्य निकलते-निकलते मेरे रतजगा के साथियों ने मुझे धीरे-से जगाया और मैं प्रपात की मूल धारा की ओर चल पड़ा। चलते-चलते मेरे मन मे आया कि धुएँ से तो आँखें करुवा जाती हैं, करुवाते-करुवाते गीली हो जाती हैं, पर मेरी आँखें इस रुपहले धुएँ से भीगते-भीगते बिना करुवाये जो लग गयी, वह किस जादू का असर था। मैं वैसे अपने निजी जीवन के रूमानियत का राज कभी न खोल सका। शायद खोलने की कोशिश भी न की, क्योंकि खोलने के लिए कोई उत्कण्ठा नही जगी, कोई प्रेरणा नही आयी, पर 'अमिय हलाहल मद भरे, श्वेत स्याम रतनार' आँखें जिन्हें जिलाने, मारने या मदहोश करने मे समर्थ नहीं हो सकीं, वे आँखें भी ऐसी जगहो में आकर हृदय का सब भेद जाने किस छल मे पड़कर चुपचाप लुटा रही हैं, मैं स्वयं नही जान पाया। मुझे अब भी समझ में नहीं आता कि लोगों को विरह *या संयोग* का उद्दीपन ऐसे स्थानो में कैसे मिल जाता है। मुझे तो संयोग और विरह दोनों दशाओं मे वहाँ जाने का मौका मिला है और मैं वहाँ जाकर दोनो दशाओं को ही भूल गया हूँ, उनके लिए उद्दीपन पाने की तो बात ही दूर है। यह जरूर है कि अकेले से अच्छा साथ होता है, पर वह साथ भी ऐसा ही हो जो मन की मस्ती को और बढ़ानेवाला हो, टीका से, टिप्पणी से, आलोचना से, निराली अनुभूति से, दर्शन से, इतिहास से या विज्ञान से आनन्द के उस क्षण को विद्रूप करनेवाला न हो।

एक बार और नजदीक जाकर मैंने इस धुएँ को निरखा तो मुझे लगा कि पृथ्वी का रूप और पृथ्वी का स्पर्श और पृथ्वी का अन्तर्नाद और पृथ्वी की गन्ध सब एक-साथ मिलकर एक बाष्प-यंत्र मे परिणत हो गया हो, जिसमे रूप चमक आया हो, रस उमड़ आया हो, स्पर्श लहक आया हो, नाद घहर आया हो और गन्ध बिथुर आयी हो।

मैंने सोचा कि 'धूम्र, ज्योति, सलिल, मरुत का सन्निपात' मेघ तो यक्ष का सन्देश अलका में वहन करता है, पर यह पृथ्वी के हृदय के उच्छ्वास से उठा हुआ रुपहले धुएँ का बादल चचाई प्रपात विन्ध्य की विनीत धरती का गद्गद कण्ठ से विह्वल सन्देश अम्बर को सुनाता रहता है, अम्बर जो उस धरती के उच्छ्वास से एक दिन व्याकुल हो गया था और अम्बर जो आज उसके लिए सूना पड़ा है, और अम्बर जो अपनी शून्यता में भी चातक और चकोर के लिए जलद और अमृतांशु बन जाता है—पर विनय में बिछी हुई शान्त निरुद्विग्न और धीरप्रसविनी धरित्री के सीमन्त को सजाने के लिए उसके पास मोतियों की माला नहीं जुरेगी और उसके अंचल में भरने को हरदी, दूब और अक्षत के साथ-साथ रत्नों का उपहार नहीं जुरेगा और शायद इसीलिए वह सूना है; पर सन्देश का शाश्वत निदान प्रत्युत्तर की अपेक्षा किये बिना गूँजता चला जा रहा है और रूप धुआँ बनकर तथा धुआँ रूप बनकर सन्देश के गायन की ताल पर थिरकता चला जा रहा है।

मेघदूत का सन्देश

मेघदूत भारत का राष्ट्रीय काव्य है। सुनकर किसी को चौंकने की जरूरत नहीं। स्काटलैण्डवाले बर्न्स को अपना राष्ट्रीय कवि मानते हैं, इसलिए नहीं कि उसने स्काटलैण्ड की वीरता के गीत गाये हों या स्काटलैण्ड निवासियों को किसी युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया हो या स्काटलैण्ड के इतिहास की कोई गाथा गायी हो, बल्कि इसलिए कि वह स्काटों की प्रकृति और स्काटलैण्ड की धरती की प्रकृति का सामजस्य स्थापित करने में सफल हुआ था, उसने दोनों की आत्मा पहचानी थी और उसकी प्रत्येक काव्य-पंक्ति उस पहचान के संस्पर्श से पुलकित है। ठीक यही बात मेघदूत के बारे में कही जा सकती है। मेघदूत में किसी रघु या राम या अर्जुन की वीरगाथा नहीं है, किसी अश्वमेध-पराक्रमी का दिग्विजय का वर्णन नहीं है, यहाँ तक कि कोई भी ऐतिहासिक व्याख्यान नहीं है, फिर भी वह समूचे राष्ट्र की भौगोलिक और सांस्कृतिक चेतना की पुंजीभूत राशि है, जिसमें प्रत्येक युग में प्रत्येक भारतीय हृदय अपने स्निग्धतम क्षण का प्रतिबिम्ब पा सकता है, अपने जीवन की चरम मंगलमय उपलब्धि जोह सकता है और साहित्य का जो मूल लक्ष्य लोक-मंगल है, उसका अत्यन्त सहजबोध्य रूप अपने हृदय में बसा सकता है। मेघदूत का आशीर्वचन है कि—

'मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युताविप्रयोगः'

अर्थात् क्षणमात्र के लिए भी जड़-चेतन किसी भी जगत् में दो संवादी तत्त्वों का विश्लेष न हो और इसीलिए हजारों कोस की दूरी लाँघती हुई भी मेघदूत की वह यात्रा न केवल विन्ध्य और हिमाचल के एकीकरण के लिए सरल प्रयत्न है, बल्कि ऐहिक प्रेम-साधना और पारमार्थिक भक्ति के बीच तादात्म्य-साधना की सिद्धि भी है, खेतिहर और वनवासी के उन्मुक्त उल्लास के साथ नागर परिष्कृत वक्रता का मधुर परिणय भी है।

मैंने मेघदूत की कहानी कई दृष्टियों से कई बार पढ़ी है। शुद्ध प्रेम-कहानी के रूप में मैंने इसका आस्वादन किया है, इसकी कलात्मक अभिव्यक्ति को परखा है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के साथ इसकी पारमार्थिक शिव-

साधना के प्रेम को भी समझने की कोशिश की है। भारतीय जीवन के स्वस्थ दर्शन की प्रतिच्छाया पायी है और इतिहास की एक अत्यन्त मधुर अनुगूँज सुनी है और प्रत्येक बार मैं सम्मोहित हो गया हूँ। प्रत्येक बार मानो मेघदूत ने मनसातीत सत्य को उघारकर रख दिया है।

जो लोग कहते हैं कि यथार्थ और आदर्श के बीच समझौता नहीं हो सकता, कल्पना और यथातथ्य में कोई जोड नहीं बैठाया जा सकता या इतिहास और भूगोल के बीच कोई सामंजस्य नहीं हो सकता या नगरो के परिष्कृत जीवन के साथ गाँव के निर्व्याज जीवन के साथ गठबन्धन नहीं हो सकता या उद्दीपन और आलम्बन में कोई एक नहीं हो सकता, उनके लिए मेघदूत एक चुनौती है।

मेघदूत में केवल मेघ के मन्द गर्जन से मानसगामी राजहंसो की उत्कण्ठा जगाने की बात हो, सो नहीं है, उसकी मंगल वारियो से धरती के साफल्य और धरती की वाणी के साफल्य का भी उदय है और यह बात बहुत महत्त्व की है। विरह का काव्य होते हुए भी मंगल की सृष्टि ही मुख्य लक्ष्य है—इस बात की ओर मेघदूत मे स्थान-स्थान पर अत्यन्त मनोरम ढग से सकेत कराया गया है। कही बक-क्रीड़ा की स्मृति जगाकर, कही चातको के मधुर निनाद को गुंजित करके, कही पथिक वनिताओ के मन मे आश्वासन जगा करके, कही विष्णु के सौन्दर्य की समता प्राप्त कराके, कही कृषिफल की कृतज्ञता मे ग्रामवधू के लोचनो मे प्रीति पिघला करके, कहीं पके आम की सफलता में धरती का मातृत्व सफल करके, कही अपनी मुरजध्वनि से ताण्डवनृत्य की साध पूरी करके, कही अपनी मंगल-सृष्टि कदम्ब के फूल को सीमन्त मे सजा करके और कही स्वयं विभिन्न आमोद-क्रीडाओ में उपहसनीय हो करके। वह मेघदूत उस व्यापक रूप से प्रवहमान जनोल्लास की वर्षा करता है, जिसकी प्यास धरती को बराबर लगती रहती है और जिसकी किसी भी मात्रा से धरती कभी भी अघा नहीं सकती।

मेघदूत को समझने के लिए बड़े विशाल हृदय की जरूरत तो है ही, लेकिन उससे भी अधिक जरूरत है इस समझ की कि मेघदूत न केवल एक शाप प्रवासी यक्ष की विरह-कल्पना है, बल्कि वह भारत के आराध्य दैवत द्वारा प्रत्येक युग के आत्म-विश्लेष की बेला मे भेजा गया, आश्वासन-भरा, ममता-भरा, मगल-भरा मधुर सन्देश है, जो उस विश्लेष को अपनी परिप्लुति में एकदम बोर देता है। जब तक यह चीज नहीं समझी जायगी, मेघदूत के चरितार्थ तक नहीं पहुँचा जा सकता। मेघदूत की समस्त काव्य-योजना राष्ट्रीयता की एक महान् परिभाषा के निर्माण मे विनियोजित हुई है, जो इतिहास, संस्कृत, भूगोल, जनजीवन, विज्ञान और प्रकृति की सभी सीमाओ और क्षितिज-रेखाओ का सम्मिलन-भूमि का निर्माण करती हुई,

राष्ट्र के प्रत्येक अवयव और कण के साथ हृदय का साक्षात्कार करा देती है। वह केवल चार घड़ी के लिए उत्तेजना नहीं जगाती, नसों में गरम लोहू नहीं उबालती बल्कि राष्ट्र के जितने भी घटक हो सकते हैं, उन सभी के साथ ऐसा गहरा अनुराग भर देती है कि राष्ट्र व्यक्ति के जीवन का अंग बन जाता है।

आज जब राष्ट्र के गौरव को पहचानने की मंगलवेला आयी है, तब उसके उपादानों का अध्ययन एक व्यापक दृष्टि से होना अत्यन्त आवश्यक है और इसलिए मेघदूत के विशद अध्ययन की आज सबसे अधिक आवश्यकता है, क्योंकि राष्ट्रीयता का समग्र रूप में दर्शन अकेले किसी ग्रन्थ में है, तो वह मेघदूत में है। कुछ लोग कह सकते हैं कि क्या उद्दाम विलास के वर्णन 'नीवी बन्धोच्छ्वास' प्रणयी के उत्संग में, दुकूल के विलंसन, शृंगार सिद्ध करनेवाले कल्पवृक्ष के वितान या स्वप्न में या चित्र में सम्मिलन के प्रयत्न राष्ट्रीयता के लिए उपकार कर सकते हैं और क्या वह राष्ट्रीयता काम्य होगी, इसका उत्तर देना आज के बाह्य नैतिकवादी युग के मानों को देखते हुए बहुत कठिन है; पर इस देश की प्रकृति जिस स्वस्थ उपभोग के बिना, दूसरे शब्दों में जिस एवज के बिना, जिसका ऐश्वर्य बन्ध्य माना जाता रहा है और इसीलिए जिसका जीवन भी खण्डित माना जाता रहा है, उसमें यदि अकुण्ठित और अकृत्रिम निर्व्याज स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध की स्थापना करायी जाती है, तो वह समूचे समाज के मंगल के लिए है, केवल व्यक्ति के क्षणिक सुख के लिए नहीं।

मेघदूत की कथा-योजना के पीछे मूल हेतु जो स्पष्ट रूप से यद्यपि नहीं कही गयी है, पर समूचे कथा-प्रवाह में जिसका संकेत सूक्ष्म रूप से कई स्थानों पर किया गया है, शिव की अर्चना में प्रमाद है और उस प्रमाद के अनुताप का ही एक परिशोध है मेघ द्वारा सन्देश-वहन। कहा जाता है कि यक्ष जब नये परिणय के रस-रंग में एकदम डूब गया, तब उसे अपने उस कर्त्तव्य के बारे में जागरूकता न रह गयी, जो उसे धनपति ने सौंपा था। अलकापुरी शिव की छत्रच्छाया में बसी हुई नगरी है और शिव की आराधना के विभिन्न कार्य विभिन्न व्यक्तियों के जिम्मे सौंपे रहते हैं। मेघदूत का नायक फूल चुनने के काम में नियुक्त था और शिव के मस्तक पर बासी फूल चढ़ाना मना है, यह जानते हुए भी यौवन के उन्माद में उसने नये फूल चुनने के परिश्रम से जी चुराकर कुछ दिनों तक लगातार बासी फूल दिए और यह प्रमाद उसके अभिशप्त प्रवास का कारण बना। इस प्रमाद का प्रायश्चित्त भली-भाँति नहीं हो सकता था, जहाँ यौवन और ऐश्वर्य की वे सुविधाएँ जिनमें मग्न रहने के कारण यह हुआ, छीन ली जायें और इसलिए शिव के पुनः परितोष के लिए वह रामगिरि की छाया में बसेरा लेता है, क्योंकि शिव और राम परस्पर आराध्य आराधक दोनों हैं। राम मानव की कल्याण-साधना के साथ केवल

अपनी साधना के कारण साध्य से भी अधिक महनीयता के मूर्तिमान् आलम्बन हैं और यही कारण है कि देवताओं की भूल का उद्धार मानव शरीर से ही कराने की परम्परा बराबर साहित्य में रही है, लोक के परम मंगल के आराधक कालिदास ने भी उस परम्परा का अनुसरण किया है। कालिदास के शिव गतिशील मंगल के एक जीवित पुंज हैं और उनकी प्राप्ति के लिए जिसे दूरगामी दृष्टि की आवश्यकता है, वह बिना नाना सरिताएँ और गिरि-कानन लाँघे आ नहीं सकती, बिना धरती के प्रत्येक अंचल से स्नेह पाये स्निग्ध नहीं हो सकती। इसलिए कालिदास ने जिस माध्यम का सहारा लिया है, उसमें व्यापकता, गतिशीलता, सघन सरलता और संयत द्रुतिशीलता सभी एक साथ प्रकृति से वरदान के रूप में प्राप्त हैं। वह माध्यम शिव की उर्वर मूर्ति के सभी पदार्थों में ऐसा मिला हुआ है कि एक भी उससे अविलग रहकर निष्प्राण हो जाय—

भूमिरापोनलो वायुः ख मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

और मीमांसा करने पर यह पता चलेगा कि मेघ में धरती की तृप्ति, जल का बीज, तेज की रेख, वायु की चेतना, आकाश का शब्द ब्रह्म, मन की विश्व-गोचरता, बुद्धि की ज्ञानदर्शिता और अहंकार की स्फीति सब एक अद्भुत संयोग के कारण एकत्र संचित है। वह पौरुष के अप्रतिहत रूप का प्रतीक है जिसके लिए कोई अप्राप्य नहीं है, कोई असाध्य नहीं है और जो आठों प्रकृतियों को अपने में बाँधकर रख सकता है।

थोड़ी देर के लिए इतनी लम्बी-चौड़ी आध्यात्मिक व्याख्या यदि हम भूल भी जायें तो कम-से-कम जो मेघ का स्थूल प्रभाव है, जिसके कारण वह खेतों में काम करनेवाले कृषकों और कृषक-बन्धुओं तथा महलों में फूलों की सेज बिछाने-वाली रसिक जोड़ियों के लिए समान रूप से आश्वासन और पूर्ण कामना का वाहक बनकर आता है, उसकी अमोघता तो सहज ही में समझी जा सकती है और इसी प्रकार शिव को भी उनके योगीश्वर के रूप में समझने में कुछ कठिनाई भी हो, तो कम-से-कम शिव का जो सार्वजनिक उत्सवों के साथ एकाकार रूप जन-मन में बसा हुआ है, उसकी प्रेरणा तो सहज बोध्य हो सकती है।

कालिदास का काव्य अत्यन्त असंलक्ष्य रूप से लौकिक और आध्यात्मिक दोनों भूमिकाओं को एक साथ लेकर चलता है, यद्यपि एक क्षण के लिए भी वह लोक को नहीं बिसारता, क्योंकि संस्कृत का समग्र साहित्य लोक का साहित्य है और लोक के परम पुरुषार्थ से अधिक प्राप्त कराने का वह कभी भी दावा नहीं करता। उसका प्रत्येक लौकिक आनन्द परमानन्द का प्रतिबिम्ब या

आभासमात्र न रहकर स्वयं परमानन्द के उद्भासित क्षण के रूप में देखा जाता है। शायद इसीलिए उसके साहित्य के प्रतिनिधि गायक कालिदास ने अपने प्रत्येक ग्रन्थ मे जो आरम्भ मे वन्दना की है, वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इसी जगत् की आरम्भ मे वन्दना की है, यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इसी जगत् की सृष्टि के बीच केन्द्रित शक्तिस्रोत के रूप में शिव तत्त्व की प्रतिष्ठापना के लिए ही की है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में भारतवर्ष के प्रथम सिंह पराक्रमी चक्रवर्ती भरत की उद्भव-भूमि शकुन्तला की शक्ति का एक ओर परिचय दिया गया है, तो दूसरी ओर शिव की अष्टमूर्ति का ध्यान किया गया है। 'रघुवंश' में एक ओर पार्वती और परमेश्वर की वन्दना की गयी है, तो दूसरी ओर मानवी गिरा और उसके अर्थ की आराधना और साथ ही साथ जगत् को वात्सल्य मे सिंचित करने के लिए एक माता-पिता भी ढूंढा गया है। 'कुमार सम्भव' में शिव की उर्वर कल्पना को स्फुरण देनेवाली धरती की सीमाओं को अपनी बाहुओं में घेरकर गौरव के अधिष्ठान देवत्व के परम निलय, मानव के उत्तरयान के साध्य हिमालय के अस्तित्व के साथ-साथ पृथ्वी के ऊर्ध्वगामी अभिमान की भी घोषणा की गयी है।

मेघदूत मे कवि ने एक साथ यौवन के उन्माद से जनित प्रमाद के परिताप और उस परिताप के लिए धरती की सन्तान सीता के स्नान से पवित्रीकृत जल के स्पर्श तथा राम के बनवास की स्मृति से शीतल छाया मे निवृत्ति जो झांकी है, वह केवल इसलिए कि मनुष्य की दुर्बलता या उससे उत्पन्न दुर्दिन भी मंगल-कामना के लिए अन-उर्वर न समझा जाय और व्यक्ति का दुर्वह से दुर्वह और गहन से गहन दुख का क्षण भी चराचर विश्व के मंगल और आनन्द की आराधना करने के लिए सक्षम हो सके, जिससे उसका दुख भी विश्व के आनन्द की एक कड़ी बन जाय।

वस्तुतः कालिदास के एक शिवसेवक भक्त का विरह केवल शिव के चैतन्य के बहुमुखी प्रकार के परिदर्शन और उस परिदर्शन के द्वारा आत्म-निवृत्ति के लिए है। जो लोग रचनात्मक कार्यों और समाज-सुधार के दिखाऊ साधनों के ऊपर बहुत बल देते हैं और यही सोचकर अपनी विरहिणी राधा या गोपनी से नर्स या मजदूर-नेत्री का काम कराये बिना जिन्हें सन्तोष नही होता, वे सचमुच समाज की मूल आनन्दवृत्ति के बारे मे घोर अज्ञान रखते हैं। वस्तुतः वे आनन्द को भी एक अभाव के रूप मे ही समझ पाते हैं और इसीलिए पीडा के साथ उनकी सहानुभूति गहरी होती है, पर पीडा का बोध ही न हो, ऐसा भी कोई साधन हो सकता है और उसकी भी साकार उपासना की जा सकती है, उसका उन्हें ज्ञान नहीं होता। क्योकि वे अपने बोध के आगे नही देख सकते, विश्व के उत्सव मे वे एकाकार नही हो सकते, दूसरों के उल्लास में

उनका हृदय नहीं मिल सकता और अपनी रुचि के आगे दूसरों की रुचि में उन्हें परिष्कार नहीं दीख सकता और किसी भी सामूहिक गायन में वे अपना कण्ठ नहीं मिला सकते। जैसे विसम्वादी स्वरवाले व्यक्तिवादियों का जब प्राधान्य हो या जैसे समष्टिवादियों का बोलबाला हो, जो समष्टि में कभी चैतन्य-तत्त्व भरना ही नहीं चाहते, उसको जड बनाकर ही रखना चाहते हैं, जिससे उसकी जडता से मनमाना लाभ उठाया जा सके, उस समय इन सब वादों से दूर शुद्ध रूप से एक महान् कल्पना के द्वारा जन-जन के मंगल को रूप देनेवाले स्रष्टा की उपादान सामग्री के बारे में चर्चा करना बहुत आवश्यक है। आज के रीतेपन को उस गौरव की पूर्णता से ही भरा जा सकता है, जो कालिदास के काव्यों में से छलक रही है। आज की अनास्था को उस प्रत्यय का आश्वासन देना है जो कालिदास के वृक्ष, मेघ और पर्वत देते हैं। आज के क्षयकारी विषाद में अवसाद पर उस हरियाली का रंग चढ़ाना है, जो सिद्धांगनाओं के कुतूहल की, जनपद-वधू के सरल विस्फारित दृष्टि की, पौरांगनाओं के चंचल कटाक्षपात की, शिप्रा के पवन की मधुर चाटुकारी की, गम्भीरा के उन्मुक्त आनन्द की, गंगा के फेनिल मुक्तहास की, शिव के पुंजीभूत अट्टहास की, सुर-युवतियों के कंकण-बन्धन में मेघ के त्रास की, अलका की नव-वधू के प्रत्यंग में प्रत्येक ऋतु के शृंगार की यक्ष-कन्याओं के स्वर्ण-रत से मुष्टि-निक्षेप क्रीडा की, अलका के झरोखों में घुसकर जानेवाले मेघ की विडम्बना की, विरह के विनोद की, प्रिय के कुशल समाचार में समागम-सुख की प्राप्ति की तथा 'सन्देशवहन की प्रत्याशा में ही कृतज्ञता स्वीकार के उपलक्ष में अखण्ड सम्मिलन की मंगल-कामना की स्निग्ध श्यामलता के प्रसार में आदि से अन्त तक लहरा रही है। आज की प्रान्तीय सीमाओं के विनाशकारी मोह को वह विश्व दृष्टि देती है जो रामगिरि की टेकडी पर विलमे बादल को मालदेश से लेकर हिमालय तक संचरण कराने के लिए अपने अनुनय से विवश करती है। आज के पथ की खोज की लालसा को वह सीधा-सा चौरस रास्ता बतलाना है, जो मेघदूत ने पकडा है और जिस डगर में न कोई पलायन है, न कोई आत्म-संकोच है, न कोई चोर है, न कोई डाकू है। पथ में नदियाँ हैं, कूल हैं, वन है, वन की छाँह है, खेत है, खेत की गन्ध है, मन्दिर हैं, मन्दिरों में मंगल ध्वनि है, शैशव है, वात्सल्य उमगानेवाली अठखेलियाँ है, तरुणाई है, तरुणाई का विलास है, बुढ़ापन है, बुढ़ापे का कथारस है, सौन्दर्य है, सौन्दर्य का सुहाग है, कला है, कला में कलानिधि को छूने की उमंग के कारण अतुलित ज्वार है, भक्ति है, भक्ति में आत्मनिवेदन की पूर्णता है, स्थूल जगत् है, उसमें फूल-फल और पल्लव की समृद्धि है, अन्तर्जगत् है, उसमें चित्त की समस्त सम्भावना सात्विक चित्त-वृत्तियाँ है, कुण्ठा, अतृप्ति, अरुचि, विरक्ति, कुढन और जलन से एकदम

अछूती। संक्षेप मे न तो उस पद्य में वह आशंका है, जो यह कहने को बाध्य करती है कि—

"न सहसा चोर कह उठे मन में प्रकृतवाद है स्खलन क्योंकि युग जन-वादी है"

न वह छूछा अभिमान है जो यह थोथी गर्जना करता है—

"आह मैं ऊँचा गगन और नीव का पाताल आँसू की नदी मे"

न उसमे फीरोजी होठों पर इस जिन्दगी की बरबादी है, न उसमें कुछ क्षणों की प्रेयसी के स्पर्श से गीत मे अमरत्व प्रदान करने का असफल विश्वास ही है। न उसमे वाणी की दीनता है, न वाणी मे सत्य और ईमानदारी के वहन का बहुत बड़ा दुर्वह दायित्व-ज्ञान ही। उसमे यदि कुछ है तो स्वस्थ जीवन की चेतना है, विरह की कृशता मे सौभाग्य का दर्शन है और कभी भी रीती न होनेवाली चर-अचर विश्व को भर देनेवाली मंगल की पूर्णता है, परम्परा मे गहरी आस्था है और इस आस्था मे नव-जीवन भरने की अतुलित शक्ति है। ग्रन्थि, भय, वक्रता या जटिलता को छोड़ जो कुछ भी काम्य या मांगलिक हो सकता है, वह सब-कुछ है।

मेघदूत का सन्देश बहुत पुराना है, पर प्रत्येक युग मे वह वैसा ही नया और वैसा ही स्फूर्तिदायक है। इसका कारण सन्देश देनेवाले की साधना है या उस युग के पूर्ण पुरुष विक्रम की परछाईं है, देश की प्रकृति के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग के विभ्रम-विलास के साथ दृष्टि की तन्मयता है या अमृतघट के लिए जीवन के प्रेम-समुद्र का मन्थन है, पर उस सन्देश के लिए आज लोग अधिक उत्कर्ण हों; सन्देशवाहक के प्रति युगों-युगों की कृतज्ञता की स्मृति मे अधिक उद्ग्रीव हों और जब देश की उसकी स्वतन्त्रता से विश्लेष की अवधि पूरी हो गयी हो, आनन्द-मिलन की वेला आयी हो, तो उस विरह के संबल मेघदूत के प्रति यज्ञ की ओर से कहीं फिर उदासीनता न आ जाय, कहीं जन-शिव की आराधना मे वह प्रमाद न हो, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि मेघदूत का सन्देश बार-बार गहा जाय और अपनी समग्रता मे गहा जाय, एक अंश मे नहीं, तभी उसकी राष्ट्रीय जीवन मे सार्थकता होगी।

स्वाधीनता युग के कटघरे में हिन्दी

यह मेरे देश का दुर्भाग्य है कि भाषा का प्रश्न उन प्रश्नों में था, जिनके कारण देश का बँटवारा हुआ और उस समय शत्रु जैसे उर्दू प्रेमियों ने ये रोना भी रोया था कि जिन्ना को उर्दू से क्या मोह कि उर्दू की माँग को लेकर पाकिस्तान बना रहे हैं। पाकिस्तान बनने का अर्थ भाषा के रूप में १९४६ के आसपास हिन्दुस्तान से उर्दू की विदाई थी। फिर उर्दू ने हिन्दुस्तानी के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करना चाहा और जब अहिन्दी भाषी उस मिलावटी भाषा को स्वीकार करने को तैयार नहीं हुए तो उर्दू के पक्षधरों ने अंग्रेजी का दामन पकड़ा और हिन्दी के लिए १५ वर्षों की रोक लगा दी। इसके बाद अंग्रेजी विकल्प भाषा से सम्पर्क भाषा बनी और अंग्रेजी ने अपने हाथ में हिन्दी को एकमात्र स्वीकार करने के विषय में राजनीतिज्ञों से निषेधाधिकार प्राप्त कर लिया। दुःख इसका नहीं है कि हिन्दी राज्य भाषा के रूप में स्वीकार करने का निश्चय क्यों पूरी तरह कार्यान्वित नहीं हो रहा है, दुःख इसका है कि हिन्दी को कागजी प्रतिष्ठा देकर उसका सरे बाजार इतना अपमान कर दिया जा रहा है और हिन्दी भाषा के साथ-साथ हिन्दी साहित्य का इतना तिरस्कार क्यों किया जा रहा है ? इससे भी ज्यादा दुःख इस बात का है कि हिन्दी के जाने-माने साहित्यकार इस समस्या पर कुछ भी बोलने में असमर्थ हैं। वे हिन्दी के नाम पर फैलाये गये कुछ चारों से इतने संतुष्ट हैं या ऐसी सात्विक भूमिका में पहुँच चुके हैं कि उन्हें हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्मान का प्रश्न कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं लगता। यही नहीं, प्रगतिशीलों की पंक्ति में मेरा नाम कहीं छूट न जाय, वे गाहे-बेगाहे भाषा के सम्बन्ध में कोई-न-कोई रहस्यवादी वक्तव्य भी दे देते हैं। साधारण हिन्दी भाषी चाहे वह साक्षर हो या निरक्षर आज एक भाषाविहीन व्यक्ति बन गया है क्योंकि जिस भाषा में वह साँस लेता रहा है वह भाषा स्वाधीनता के बाद न तो स्वाधीनता की भाषा है, न देश की एकता की भाषा है और न व्यक्ति की प्रतिष्ठा की भाषा है। अब नहीं, एक जमाना था जब विचारों के पक्के साम्यवादी होते हुए भी राहुल जी इस भाषा के प्रश्न पर कम्युनिस्ट पार्टी से निष्कासित हुए और आज उर्दू के

लिए उठाए गए नए आन्दोलनों को राष्ट्रीय एकता का आन्दोलन कहा जा रहा है और हिन्दी को हिन्दी भाषी प्रदेशों के पिछड़ने के लिए ही नहीं, उसकी बगावत-परस्ती के लिए भी एकमात्र दोषी घोषित किया जा रहा है।

भारत जब पराधीन था तो पराधीनता के दुःख तीव्रतर बनाने के लिए समस्त दु.ख पराधीनता के माथे मढ़ दिये जाते थे; किसी का लड़का यदि काना जनमता था तो भी यह कहा जाता था कि गुलाम देश का यही तो अभिशाप है कि लडके काने पैदा होते हैं। स्वाधीन होने पर भी बहुत से दुःख गये नही। स्वाधीनता को तो दोष दिया नही जा सकता, स्वाधीनता लानेवाले कारणो को ही दोष दिया जा सकता है। उन कारणों मे एक प्रमुख कारण है हिन्दी। सो यदि देश पिछडा है तो हिन्दी का कसूर है। यदि प्रदेश केन्द्र की विनियोजित संस्कृति की आकांक्षा को पूर्ण नहो करता तो भी कसूरवार हिन्दी है। यदि उत्तर प्रदेश मे कृपलानी जीतते हैं तो हिन्दी का कसूर और अगर जेड०ए० अहमद जीतते हैं तो हिन्दी का कसूर। लोग बेजबान होकर जुल्मो-सितम बर्दाश्त करते रहें तो हिन्दी का कसूर और यदि जवाब देने की जुर्रत करें तो हिन्दी का कसूर। लोगो मे बटेरबाजी, कबूतरबाजी, और बुलबुलबाजी के शौक की तहजीब नही रही, यह भी हिन्दी का कसूर और तिफल माशूकों की आँखों की शोखो का कोई शिकार नही होता, यह भी हिन्दी का कसूर। हिन्दी जिम्मेदार है समाजवादी उच्छृंखलता के लिए। हिन्दी जिम्मेदार है प्रतिक्रियावादी रूढिवादिता के लिए। क्या कीजिएगा यह बेजबान जवान है, सब पी लेती है, यह धरती की बेटी है, निर्वासन भी झेलकर यह राम का मगल ही मानती है, अयोध्या मे अपनी सोने की प्रतिमा की पूजा से ही संतोष कर लेती है। इसे किसी पर आक्रोश नही, न उस विदेशी शासन के रावण पर है, जिसने इसे पददलित किया, न उस धोबी पर जिसने फब्ती कसी, न उस देवर पर जिसने निष्कासन का रथ हाँका, न उन न्यायकर्त्ताओं पर जिन्होने चुपचाप राजधर्म की बलिवेदी पर इसे बलि हो जाने दिया। पर अब तो यह बनवास भोग रही है। बहुत ही छोटे लोगों के बीच रह रही है, राजधानी के ऐश्वर्य से दूर, अब भी राजधानी के पालतू प्रशंसक इसका पिण्ड नहीं छोडते।

राजधानी का प्रसिद्ध पत्र है 'हिन्दुस्तान टाइम्स', भारत के सात्विक बिड़लाशाही पूँजीवाद का धरोहरी पत्र है, बड़ा ही प्रबुद्ध और बडा ही सुरुचि-सम्पन्न। कुछ वर्षों पूर्व उसने 'फिराक' का आक्रोशपूर्ण लेख छापते हुए यह प्रकाशकीय अभिमत दिया है—

"फिराक गोरखपुरी ने आक्रोश से भरकर हमारी सांस्कृतिक गतिहीनता का पर्यालोचन किया है। उर्दू के इस शायर ने हिन्दी प्रदेश के रोगों का गहरा निदान किया है और कुछ तात्कालिक औषध भी सुझाई है।" अब जरा

फिराक गोरखपुरी द्वारा प्रस्तुत हिन्दी प्रदेश का सांस्कृतिक गतिरोध भी देखा जाय। फिराक गोरखपुरी हिन्दी प्रदेश को भारत का सबसे सबल और सबसे दुर्बल अंग मानते हैं। यह प्रदेश सबल इस माने में था, इसने इस्लाम की चुनौती स्वीकार की और दुर्बल इस माने में कि यह प्रदेश हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति (यह राजधानी की अपनी खास ईजाद है, जो मुस्लिम को हिन्दुस्तान से बाहर भी रखती है और हिन्दुस्तान के साथ संयुक्त रखती है, पर जो भारतीय में मुस्लिम को अस्पृश्य मानने का साहस नहीं करती) से प्रेरणा ग्रहण करके भी कुंठित ही रह गया। इसी कारण हिन्दी साहित्य ने "भारत की राजनीतिक और सांस्कृतिक राजधानी दिल्ली के आसपास की भाषा ग्रहण करने में" इतनी देर लगाई। खुदा भला करे हिन्दी प्रदेश में उन शहरी लोगों को जिन्होंने एक ईंट-गारा दर्जे की शहरी बोली और महीन ज़बान को अपनाया, जिसमें महज दो हजार मसनवी-शायरी के शब्द थे (बाद में उनकी जब वृद्धि हुई तो वह सृष्टि का बल था।) ये शब्द आम जनता की ज़बान से पुनर्मिल गये थे (आम जनता से मतलब दरबार के आसपास शासन की सिढ़ी पर पायेदारी मौरूसी नौकरशाही या सामन्तशाही से है)।

हिन्दी प्रदेश की दूसरी बड़ी नादानी यह थी कि उसने अंग्रेजी तमद्दुन को भी तरजीह न दी, जबकि अंग्रेजी तमद्दुन ने ही ७५ वर्षों तक राष्ट्र का निर्माण किया। फिराक साहब जब अपना दिल टटोलकर पूछते हैं कि हमने ऐसा करके भाषा, संस्कृति और अपनी मेधा पर आघात नहीं पहुँचाया तो उनके दिल से आवाज आती है कि हाँ। वे आज की हिन्दी को नकली हिन्दी कहते हैं क्योंकि इसमें संस्कृत के शब्द हैं; इसमें जनभाषा के शब्द नहीं और इसमें अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का बहिष्कार है। यह हिन्दी मदनमोहन मालवीय; जवाहरलाल नेहरू, श्रद्धानन्द और डॉ० भगवानदास जैसे महापुरुषों को जन्म देने में असमर्थ है।

यह तो उनके पीछे की दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं पंक्ति को भी नहीं तैयार कर सकती। इस हिन्दी ने हमारे लालों को बौना बना दिया है।

संस्कृत है ही जंगली भाषा, तभी तो फिराक को शिकायत है कि हिन्दी गाली-गुफ्ता की बनती चली जा रही है और उर्दू परम्परा के अभाव में विद्यार्थी अब उस तहजीब का और उस अदा का पालन नहीं करते जो कि मुगल दरबारों तक पहुँचने की पहली सीढ़ी थी। इसी के कारण विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता आ गयी है। हिन्दी के कारण माध्यमिक और विश्वविद्यालय शिक्षा उपहासास्पदता को प्राप्त हो गयी है। संक्षेप में सांस्कृतिक गतिरोध के मुख्य कारण हैं—(१) अंग्रेजी का विरोध और उसे प्रोत्साहन न देना, (२)

उर्दू का विरोध और उसे प्रोत्साहन न देना और (३) एक ऐसी हिन्दी की स्थापना जो कि हिन्दी का मजाक है।

फिराक ने अन्त में यह प्रश्न पूछा है कि क्या इस खतरे की सूचना देना हिन्दी के हित का विरोध है? (जी नहीं, आप जैसे हितचिन्तक जुग-जुग जियें।)

अंग्रेजी और उर्दू के गठबन्धन का यह तमाशा नया नहीं है। आज से सौ वर्ष पहले भी दो फातेह (विजेता) संस्कृतियों ने हाथ मिलाये थे और मफतूह (विजित) संस्कृति ने तब भी घुटने न टेके थे। संविधान बनने के समय उर्दू परस्तों ने अंग्रेजी का नाम नहीं लिया। वे हिन्दुस्तानी के लिए आग्रह करते रहे। पर जब हिन्दी प्रदेश के बाहरवालों की प्रेरणा से हिन्दी स्वीकार कर ली गयी तो फिर से अंग्रेजी के लिए कोशिश की जाने लगी क्योंकि वे प्रदेश अंग्रेजी को स्वीकार कर सकते थे। फिराक ने हिन्दी की सेवा ही की है। उनके दिल का यह गुबार एक म्रियमाण किन्तु खतरनाक संस्कृति का गुबार है। वह संस्कृति बनावट, शोषण, गुलामी, विकृत सामाजिक रुचि और छिछले रूमान की संस्कृति है। भारत की संस्कृति के प्रखर ताप से बचने के लिए ये शीशमहल विदेशी पौधों के रख-रखाव के लिए खड़े किये गये। अब अगर इन शीशमहलों पर रोशनी के तीर आकर टूटते हैं तो सिवा इसके कि रोशनी को ही जी भरके कोसा जाय दूसरा चारा ही क्या रह जाता है। हिन्दी साहित्य की परम्परा के बारे में यह कहना कि वह बंधी हुई परम्परा है, कल्पनातीत गजनिमीलिका है। हिन्दी ने प्रभाव मुक्त भाव से ग्रहण किये हैं। वह केवल शहर के गली-कूचों की भाषा नहीं है, घुटन-भरे और घुटने टेक राजदरबारों की भाषा नहीं है, वह भाषा है गाँव देहात के मुक्त गगन की; आँधी-पानी की, धूप की और नदी के सीधे बहाव की। हिन्दी साहित्य का जातीय बोध किसी एक धर्म, एक विश्वास, एक भौगोलिक सीमा, एक सामाजिक स्तर, एक व्यवहार, एक शाही घराने या एक सम्प्रदाय तक (चाहे वह राजनैतिक हो या धार्मिक) न कभी सीमित रहा है न कभी सीमित रहेगा। उसने राष्ट्र की एकता को इसलिए प्रतिध्वनित किया कि विश्व-शक्ति का यह तकाजा था कि कोई राष्ट्र पराधीन न हो, दलित न हो। हिन्दी साहित्य के शक्तिशाली स्वर ने रूढ़ियों का और जीवन-विरोधी शक्तियों का हमेशा खण्डन किया है। कठमुल्लापन और पोंगापन्थ हिन्दी की प्रकृति का कभी भी ग्राह्य नहीं रहे हैं। कबीर और तुलसी ने अशिव शक्तियों को फटकार बताने के लिए जो भाषा अपनाई है वह भाषा लागलपेट की भाषा नहीं है। वह प्रखर और स्पष्ट भाषा है। उस भाषा का सहज संस्कार हिन्दी के साहित्यकारों के नैतिक साहस से आया है। हिन्दी ने इस्लाम से प्रभाव ग्रहण किया पर वह प्रभाव राज दरबार के माध्यम से नहीं आया, वह प्रभाव

आया अलमस्त फकीरों के माध्यम से—फकीरों के माध्यम से जिनको कट्टर-पन्थी शाहंशाह मजार पर चढवाते थे और फकीर विश्व की समरसता की तलाश मे हमारे संतो के सहयात्री थे। हिन्दी ने पश्चिमी साहित्य से भी प्रभाव ग्रहण किया; न निलहे साहबों के माध्यम से, न इंगलैंड के समाज-बहिष्कृत छोकरो के माध्यम से। हिन्दी ने अंग्रेजी प्रभाव ग्रहण किया उन तत्वजिज्ञासुओं के माध्यम से, जिन्होने भारतीय जन की संस्कृति-सम्पन्नता को आशंसा की दृष्टि से देखा और जिन्होने हमारे बौद्धिक प्रकाश मे ग्रीक संस्कृति की सी प्रखरता पायी। हिन्दी ने प्रभाव ग्रहण किया उन रोमांटिक कवियों से जिन्होने प्रकृति-प्रेम; स्वाधीनता, विश्वमैत्री और समता तथा सामाजिक न्याय के गीत गाये थे, जिनमे से कुछ ने तो दूसरे देशो के स्वाधीनता संघर्ष मे अपनी आहुति भी दी। हिन्दी ने सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष करने वाले पश्चिमी विचारकों से प्रभाव ग्रहण किया। और अंत मे इन सब प्रभावो को अपने जीवन प्रतिमान की संघटना मे यथोचित स्थान देने के लिए, देश के स्वाधीन होने के बाद, हिन्दी ने अपनी समग्र परम्परा का आकलन किया। उसने अपने को पूरे देश के साथ जोड़ा, पूरे इतिहास के साथ जोडा और पूरी विश्व सत्ता के साथ जोड़ा। इस जोडने की प्रक्रिया मे उसे स्वाभाविक रूप मे संस्कृत शब्द-राशि से सहायता मिली। संस्कृत जनभाषा के रूप मे अपना स्थान दूसरी भाषाओ को देने के बाद भी दार्शनिक, बौद्धिक, अनुसंधान और सांस्कृतिक व्यवहार की भाषा १५०० वर्षों तक बनी रही और अभी भी बनी हुई है। हिन्दी कोई कोठरी नही है जिसमे प्रभाव ग्रहण करने के लिए खिडकी खोलने की जरूरत पडे। वह एक खुला मैदान है, जिसमे प्रभाव मुक्त-भाव से अपने आप आते हैं। यदि वह कायदे अदब के शिकंजो से बँधी भाषा नही है तो यह उसकी शक्ति है, उसका अपराध नही। हिन्दी साहित्य को काश एक बार परिश्रम करके फिराक साहब पढते तो उन्हे विक्टोरियन-युग के महामानवो के पीछे भटकने की जरूरत न होती। हिन्दी साहित्य की आधुनिक चेतना ने छोटे मानव मे भी शक्ति के केन्द्र रोपित कर दिये हैं।

भारतीय भाषाओं मे और साहित्यो मे अग्रस्थान ग्रहण करने का हिन्दी ने आग्रह नही किया। यह इन सब की संयोजक शक्ति के रूप मे बनी रहना चाहती है। हिन्दी की यह विनय हिन्दी के हीन भाव के कारण नही है। "अब वह समय आ गया है जब हम हिन्दी की संतानो को क्षमा-प्रार्थना के स्वर मे नही, सत्य स्थापना के स्वर मे यह दृढ़तापूर्वक कहना चाहिए कि राज-भाषा होने के लिए हिन्दी अब अपने को अपमानजनक शर्तों पर बेचने को तैयार नहीं है। राज-भाषा का पद हिन्दी के लिए बहुत छोटा पद है। हिन्दी का साहित्यकार राजस्तुति को, प्राकृतजन के गुणगान को हमेशा तुच्छ और हेय करार्म

मानता आया है। वह हमेशा से तेज का उपासक रहा है—वह तेज चाहे छोटे-छोटे से आदमी में हो पर हो वह ऐसा कि उसमें समग्र विश्व का तेज प्रतिबिंबित हो। हम शासन के दबाव के कारण नही, अपने दायित्व के बोध के कारण समग्र भारत के जीवन के संस्पर्श से हिन्दी को पुलकित कर रहे हैं और करेंगे। प्रकाश की किरण देश या विदेश के किसी भी कोने से आये उसे ग्रहण करेंगे" पर उसके साथ ही हम प्रत्येक ऐसी बाधा का या दीवार का भंजन भी करेंगे जो हमे घेरती हो, जो हमारे प्राणों को बन्धन में डालती हो और जो हमारे प्रकाश रूंधती हो। हिन्दी वालों ने न तो अंग्रेजी का तिरस्कार किया न उर्दू का, "उन्होंने अंग्रेजी की गुलामी का तिरस्कार किया और करेंगे, उन्होंने उर्दू की एक विलग और अस्वाभाविक सत्ता का खण्डन किया और करेंगे।" रही बात हिन्दी प्रदेश मे सास्कृतिक गतिरोध की, यदि "आज के राजनैतिक और साहित्यिक नेता अंग्रेजी-परस्त सरकारी नौकरियो में भरती को ही संस्कृति का मापदण्ड मानते हो तो हिन्दी प्रदेश सदा से इस ओर से कुछ उदासीन रहा है। उदासीन न रहता तो हिन्दी के ही खिलाफ फतवा देनेवाले ये नेता आज इस स्थिति मे और इन पदो पर न होते कि हमारे ही प्रदेश मे वे हमारे विरुद्ध मजे से विष उगल सकते" यदि संस्कृति का मापदण्ड साहित्य, कला एवं विज्ञान है तो मैं नहीं समझता कि गतिरोध कहाँ है और किस प्रकार है। केवल आँकड़े लीजिए तो हिन्दी मे सबसे अधिक पुस्तकें छपी हैं और उर्दू साहित्य भी न केवल देव-नागरी में छप रहा है बल्कि अधिकाधिक मात्रा में उन्ही जंगली संस्कृत तत्सम शब्दो का पर्याय कोष्टक या पादटिप्पणी मे देते हुए छप रहा है। यदि वैशिष्ट्य के आधार पर ही परीक्षा करें तो जितना जागरूक और तीव्र प्रयत्न सास्कृतिक चेतना को उद्बोधित करने के लिए हिन्दी मे है वह विश्व की किसी भी समृद्ध आधुनिक भाषा के समकक्ष कहा जा सकता है। यह जरूर है कि हम हिन्दी वाले स्वयं अपनी क्षमता और अपनी उपलब्धि के बारे मे आत्मविस्मृत रहते हैं। मुझे उन हिन्दी के अध्यापको और हिन्दी के हिमायती नेताओ पर बड़ी दया आती है, जो हाथ जोडकर यह कहते हैं कि हिन्दी को अभी बगला तामिल से सीखना है। कहना यह चाहिए कि प्रत्येक भाषा को और प्रत्येक साहित्य को दूसरी भाषा से और दूसरे साहित्य से, यदि वे भाषा और साहित्य जीवित रहना चाहते हैं तो, सीखना ही होता है और प्रतिदान में कुछ देना ही होता है।

हमें फिराक के शिकवे में आक्रोश का स्वर नही मिला। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का क्रोध मापक यन्त्र कुछ अधिक सुकुमार होगा। मुझे सिर्फ एक रॉड़ के रोने का स्वर मिला जो दूर दुर्भाग्य को अपने सुहाग के लुटने के साथ जोड़ देती है। "सांस्कृतिक गतिरोध फिराक का है, हिन्दी प्रदेश का नही और इस

गतिरोध का कारण हिन्दी नहीं है, बल्कि हिन्दी को न स्वीकार करने की जिद है।"

'हिन्दुस्तान टाइम्स' के साम्प्रदायिक विधाता ने 'बनाये लल्लू और सराहे छबीले' की उक्ति चरितार्थ की है। वे अपनी अंग्रेजीपरस्त कच्छपवृत्ति के लिए एक सहारा पाकर मग्न हैं कि उनके मर्ज मे मुकाबिला एक और मिला जिसे वे रोग कहते हैं वह निदान है और जिसे निदान कहते हैं वह उनके मन का रोग है। जिन लोगों ने समझदारी को अंग्रेजी परस्ती से जोड़ रखा है उनकी बुद्धि को दवा सिर्फ प्राकृतिक चिकित्सा (नेचुरोपैथी) हो सकती है। खुले मैदान में घूमें, धूप लें, नदी मे नहायें और चक्की का पिसा खायें। इसके अलावा दूसरी सलाह क्या दूं ?

सावनी स्वाधीनता : एक निर्वासित श्यामा

सावन आ गया है। रथयात्रा बिना बरसे बीत गयी। आर्द्रा ने यहाँ-वहाँ धूलि पर हलका छिड़काव कर दिया। बादल मे दिन मे आकाश की पैमाइश करते रहे, शाम होते ही सूरज के साथ आरामगाह मे चले जाते रहे। पुरवैया भी दिन-रात लगातार झोरती रही। सरंजाम सावन के आने के उल्टे-पुल्टे क्रम से सब पूरे होते रहे और अब जब सावन पत्रा में आ गया है तो लगता है जैसे सावन आया ही न हो। विश्वविद्यालय के उनीदे कमरे जगते ही जम्हाई लेने लगे हैं। अभी बहुत जगहों में परीक्षाएँ शुरू होने जा रही हैं, जहाँ हो भी चुकी हैं, वहाँ अभी दाखिले की ही बाढ़ आयी हुई है, पढाई अभी शुरू होने को है। वैसे शुरू होने मे रखा क्या है ? इससे तो विश्वविद्यालय की शान्ति भंग होने का अन्देशा है। गेहूँ के साथ-साथ पहले घुन पिसता था, अब घुणाक्षरी न्याय से मिल जाने वाली ऊँची शिक्षा भी पिस रही है। गेहूँ के अधिग्रहण के साथ-साथ ऊँची शिक्षा का भी अधिग्रहण हो गया है। गेहूँ की भी घरू वसूली से पेट नही भरनेवाला है और यहाँ की ऊँची तालीम से भी काम पूरा नही पड़ने वाला है, क्योंकि वह तो पहले से ही उधार पर चल रही है। इसीलिए तो नही सावनी आँखें भरने-भरने को आती हैं, पर आँसू पी जाती हैं, बरस नही पाती, संवेदना भी तो आखिर उधार ही ली हुई न है ! ऐसी फिजा है और ऐसे में स्वाधीनता की टेकड़ी पर एक ऊँचा-सा मन्दिर है, दमतोड सीढ़ियाँ चढकर वहाँ एक देवी की मूर्ति है, उसको धार-कपूर चढ़ाना है। बरस-बरस का पर्व है, कुछ तो करना ही होगा।

वैसे तो हर पर्व और उत्सव की परिसमाप्ति एक अजीब थकान और एक जाने कैसी रिक्तता में होती है और लगता है यह थकान, यह रिक्तता ये ही मानवीय करुणा के बीज हैं, तभी तो उत्तररामचरित जैसे करुण नाटक की शुरुआत सूने चौराहो के जिक्र से होती है। पर अब कुछ ऐसा हो गया है कि पर्व और उत्सव के पहलेवाली भी हुलास चुक गयी है। कुछ भी करना लगता है बार-बार निचोड़े हुए मन को और निचोड़ना है, एक बूंद भी रस बाकी बचा हो चाहे न हो। पिछली रात यही सोचते-सोचते अलमा गया। नीद तो

सबरे चिरइया उडि-पडि जइहैं
रहि जइहैं निमिया अकेलि ।
बाबा, बिटियन के जनि दुख देहु
बिटिये चिरइया की नाईं ।
सबरे बिटियवे जइहें सासुर
रहि जइहें अम्मा अकेलि ।
बाबा निमिया के पेड़ जनि काटहु
निमिया चिरइया बसेर ।

गीत की गुहार अनसुनी रह गयी, मुंशी जी के हुक्म से पूरब वाली डाल कट कर धड़ाम से गिरी और सपना टूट गया ।

पेड़ की डाल का कटना बडा बुरा सपना होता है । नीद उचट गई । नीम का पेड पता नही कटा या अभी साबुत है, पर उन्मुक्त और निर्बन्ध चिन्तन की एक जगह थी, वह भरी हुई थी, तने से, डालो से, टहनियो से, फुनगियों से, पत्तियो से, उनके बीच झिर-झिरती बहती सीरी बयार से और उस बयार के साथ लहराते कुछ बराबर नये पर सधे स्वरो से । आज वह जगह एकदम खाली हो गयी । अनगढ़ माटी को नयी-नयी शक्ल देनेवाले मामूली मुदर्रिस और घर में ही रणनीति का अभ्यास करनेवाले अनपढ पर जबर्दस्त छात्रनेता दोनों ने पेड पर दावा किया । स्वाधीन चिन्तन-मनन और उन्मुक्त विचार-चर्चा की जगह सुपुर्दगी मे चली गयी मिसिलनवीस अमला शाह के हाथ । अमला शाह कागजों की फडफडाहट तो बर्दाश्त कर सकता है, कागजो को पख भी लगा सकता है, कागजो के पंख काटकर उन्हें भारी गिल्लौरी गोले के नीचे दबा सकता है, कागजी चिड़ियो को दरबों मे सालों बन्द रख सकता है, पर साँस लेने वाली, गाने वाली, चिढ़ने वाली, चिढाने वाली, अपने-आप फुदकने वाली चिडियों से उसे बहुत उलझन होती है । शायद इसलिए कि इन चिड़ियों के बारे मे कोई हिसाब नही रखा जा सकता या, शायद इसलिए कि इनके बोलने से या इनके चुप रहने से कुछ खास फर्क नही पड़ता या अधिक स्पष्ट रूप मे कहा जाय तो इनका कोई उत्पादन-मूल्य नही है । उल्टे इनके बीच-बीच मे मौके-बे-मौके बेसुरा राग छेड़ने से 'गरीबी हटाओ' की नारेबाजी का ताव बिगड़ जाता है, नारों की बुलन्दी को बेमतलब की एक नन्ही-सी चुनौती बेकल कर देती है । इसलिए यह जरूरी है कि बेमतलब की चाँव-चाँव खत्म की जाय । विश्वविद्यालय केवल प्रवेश और परीक्षा के लिए खोले जाएँ, प्रवेश के समय भी खतरा तो है, पर प्रवेश की एक लाचारी ऐसी है जिसके सिवा लड़के-लड़कियों के सामने कोई दूसरी राह नहीं, यह भी न मिले तो राह की

तलाश में दौड़ते-दौड़ते उन्हें एक अथाह वीरान महासागर का बलुहा तट मिलता है, और उस रेत के भयावह विस्तार का सामना करने के लिए ये अभी तैयार नहीं हैं। खोला भी जाय तो वन्दिशों के साथ, अध्यापकों से बढ़कर न कोई कायर है, न कामचोर है, न बेईमान है, इसलिए उनके ऊपर नियन्त्रण करनेवाले लोग ऐसे हों जो शिक्षा के अलावा जिन्दगी के किसी भी क्षेत्र में घिसे हुए लोग हों, सामान्य ज्ञान की उधार ली हुई चालू पूंजी के बल पर प्रत्येक विशेष ज्ञान की बखिया उधेड़ने में समर्थ हों और ऐसे लोग हों जो मरी हुई समस्या को भी आश्वासनों के बल पर जिलाये रखने का तन्त्र-मन्त्र जानते हों। इसलिए विश्वविद्यालयों के यह हित मे है कि उनकी स्वतन्त्रता का अधिग्रहण किया जाय। यह अध्यापको के हित में है कि वे अपने हर विचार और हर चिन्तन पर सरकारी मुहर लगवाकर निश्चिन्त सोयें, लीक के बाहर जाकर नये रास्तों का जोखिम न उठायें; आलोचना करें, उससे बुद्धि की धार मरने नही पाती; पर आलोचना की धार ऐसी अहिंसक हो कि उससे सिर्फ कागज के पन्ने या लिफाफे फाड़े जा सकें। यह छात्रो के हित मे है कि वे नयी राहो पर गुमराह होने के खतरे से बचें, राह खोजने के बवाल से बचें और मौसम और दिशा के बारे मे स्वयं कोई ऐसी राय कायम करने से बचें, जो राय मान्यताप्राप्त राय न हो और आशंका हो कि उसके कारण आगे के रास्ते बन्द हो जायेंगे। इसलिए नीम का पेड़ कट रहा है, जमीन झगड़ा-झंझट से मुक्त हो रही है। नीम के पेड के साथ ढेर सारी तो तितास थी। नीम के फूलो की हलकी गन्ध कुल चार-पाँच दिन और नयी फुनगियो की कोमलता आठ-दस दिन। अधिकतर तो उस पेड से एक वातरक्तशोधक की बास आती रही है, उससे वातावरण पूरे माहौल से बेमेल हो जाता रहा है। सारी दुनिया मे घुटन हो, सन्त्रास हो, विषैले कीटाणु हैं तो एक पेड की छाँह जहाँ यह सब न हो बड़ी बेतुकी और बेमानी लगती रही है। मुंशीजी की जय हो, एक-एक डाल कटती जायेगी, पेड़ किसी मकान की शहतीर और बडेर बन जायेगा, जमीन निष्कंटक हो जायगी, तब तपिश में माटी रूँदने वाला कुम्हार और भैंस पालनेवाला अहीर दोनो समान रूप से व्याकुलता के भागीदार बन कर अपने-आप दोस्त बन जायेंगे और बिहारी का दोहा चरितार्थ हो जायगा—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ

इस खामखयाली मे एक हलकी-सी झपकी आ गयी और लगा कि पच्चीस-छब्बीस की एक लडकी या ठीक-ठीक कहें लडकीनुमा दो बच्चो की माँ उलटे पल्लू की धानी साडी पहने दरवाजे पर खडी है, सुबह की धूप नीचे फर्श पर

लोट रही है, लड़की के हाथ जुड़े हुए हैं। धानी साड़ी का एक छोर एक लम्बे तिनके की तरह दाँतों के नीचे दबा-दबा सा है। आँखें मृगी-सी कातर, चेहरे पर जबरन मुस्कान लाने की नाकामयाब कोशिश, आँखों के कोनों में अटकी हुई सुबह की रोशनी में अपनी झलमलाहट छिपा न पानेवाली आँसू की एक-दो कनियाँ, जबान जैसे तालू से सट गयी हो, केवल 'अरविन्दकुड्मलनिभ मुग्ध प्रणामांजलि' सब कुछ कहने का भार लिए हुए, केवल एक शब्द 'जाऊँ' और फिर निःशब्द तरल शून्यविद्ध दृष्टि प्रभात की रश्मि के आलोक में और विद्ध हो गयी हो। मन का सावन यकायक बाहर उड़ते हुए सूखे को, फर्श पर लहालोट धूप को और अभिनय की मुद्रा में आते-जाते बादलों के झुंड को नकारता हुआ उमड़ आया। उन्नीस सौ बयालीस का सावन याद आया, इलाहाबाद में आठ अगस्त को बादलों का झुंड कचहरी की ओर उमड़ रहा है और कमलेश मल्ल की ओर इशारा करके एक आवाज कड़कती है—शूट ऐट हिम ही इज एलोन (वह अकेले वहाँ है, उसे दाग दो) और बादलों की दूसरी-तीसरी पंक्ति से बिजली की तरह तड़प कर पद्मधरसिंह (तब तक अनाम छात्र) उठ खड़ा होता है, छाती पर कमीज फाड़ कर चिंघाड़ता है—ही इज नॉट एलोन, वी आर विद हिम (हम सब उसके साथ हैं, वह अकेला नहीं है) और गोली सीने के पार हो जाती है। गरम खून धरती के गर्भ में एक नयी सीता का बीज बन जाता है। यह जो लड़की विदा लेने के लिए सुबह-सुबह दरवाजे पर खड़ी है, वही सीता तो नहीं है जो ठीक पांच साल बाद भरे सावन में रक्तस्नात धरती पर जनमी और उसके जनमते ही धानी रंग के ऊपर त्याग का केसरिया और सत्य का उज्ज्वल रंग आकाश में फहरा उठा। वही आज अपने घर से विदा माँग रही है। मैं कौन होता हूँ विदा देनेवाला, जिसे विदा होना है, उसे रोकनेवाला मैं होता कौन हूँ? अपने सहज सावनी रंग में स्वाधीनता जिस वाणी-वितान में रह सकती थी, वहाँ नहीं रह सकती, मैं इसके लिए कर ही क्या सकता हूँ। रामायण वाली सीता राज्य से निर्वासित होकर आदि कवि प्राचेतस के आश्रम में आश्रय पाकर पुनः अपने स्वरूप में अधिष्ठित हो गयीं, निर्वासित करनेवाले राम ही असल में अपने-आप से, अपने रामत्व से निर्वासित हो गये। पर यह नयी सीता तो तपोवन से निर्वासित हो रही है। स्वाधीनता के लिए तपोवन कोई जगह में जगह है? स्वाधीनता ऐश्वर्य के षट्कोण के भीतर के श्रीचक्र में रहने के लिए बनी है, वह वहाँ अनमनी रहे, उदास रहे, (क्योंकि उसके धानी परिधान से धरती के धानी परिधान का योग नहीं बैठ पा रहा है, उसकी अँसुआई आँखों से सावनी घटा का मेल नहीं खा रहा है और उसकी प्रणाली मुद्रा से वाग्देवता की मौन असहमति से संगति नहीं बैठ रही है); रहे, इसके लिए स्वाधीनता के पहरुए क्या

करें ? उनका काम है, स्वाधीनता को अनेक विपदाओं और बाधाओं वाले वन से निर्वासित करके निरापद और निर्बाध अन्तःपुर में प्रतिष्ठित करना, जहाँ आठों पहर उस पर कड़ी नजर रखी जा सके, लोगों को दर्शन करने हों तो झरोखे से स्वाधीनता की मेंहदीरची एड़ियों के दर्शन कर लें, कृतार्थ हो जायें क्योंकि स्वाधीनता को सावन में मेंहदी रचाने की विवशता है। लगानेवाली नाइनें इसकी परवाह नहीं करतीं कि मेंहदी रचवाने का मन भी है या नहीं, उन्हें तो मेंहदी रचनी है, रचेंगी और जोरों से रचेंगी। मेंहदी के रंग से मेंहदीवाली की रुचि का तो कोई वास्ता रिश्ता है नहीं। जिस साहित्यकार को स्वाधीनता पर न्योछावर होना हो, वह इन एड़ियों के दर्शन करके इनमें रची मेंहदी पर मनभर न्योछावर हो ले, इसकी खुली छूट है, कम-से-कम सावन में तो जरूर ही; पर स्वाधीनता से रूबरू बात हो सके, स्वाधीनता कभी घर-घर की लड़की के रूप में आसपास अपनी खुशी बिखरा सके, नाच-गा सके, रो सके, रूठ सके, मनायी जा सके, खिलखिला सके उसके चेहरे पर, उसकी हथेलियों में रतनारी आभा रंग या मेंहदी से नहीं धूप और श्रम से लायी जा सके, इसके लिए वाणी के आराधक की कुटिया हो या वाणी की आराधना का आश्रम हो, दोनों वर्जित स्थान हैं। लड़की विदा माँग रही है अपने लिए नहीं, अपने जुड़वां बच्चों के लिए, उसमें एक का नाम भूख नहीं कुर्सी है और दूसरे का नाम लव नहीं दौड़ है; और दोनों का नाम कुर्सी दौड़ है। कुर्सी-दौड़ के लिए बन्द बड़ा-सा कमरा चाहिए, धुँधली-सी रोशनी चाहिए, कुर्सी पर किसी तरह मौका देखकर बैठने की बेचैनी के अनुकूल नशीला वातावरण चाहिए, बैठने का मौका चूक जाने पर दौड़ते रहने के लिए जबरदस्त प्रलोभन के सरोसामान चाहिए। वह सब यहाँ कैसे जुटेगा ? थोड़ा-बहुत नाटक हो सकता है, पर वैसी तेजी के साथ वैसा मजा यहाँ कैसे आ पायेगा ? इसलिए बिचारी विदा माँग रही है। तुम्हारा क्या जाता है, विदा दे दो !

लो, विदा दे दी। स्वाधीन चिन्तन का व्यर्थ में दम्भ नहीं वहन करना होगा, कुछ न कुछ वसीला कायदे से विदा देने पर लग ही जाएगा।

पर जब मैं घहराते भादों की बात सोचता हूँ तो लगता है कोई कह रहा है—विदा देकर भी तुम इस 'घन-अंजन वर्ण खड़े तृण जाल की झाईं' वाले वन से निर्वासित दूर्वादल श्यामा को विदा देकर भी इसके पैरों में रची मेंहदी से अपने भाल तिलकित करते रहो, भरे भादों में अँधेरी अधराति में मघा के घहरते और मूसलाधार बरसते बादलों की कौंध में एक निमन्त्रण आयेगा—श्याम ने तुम्हें बुलाया है। प्रासाद के कारागार में जनमे, पर व्रज के करील वनों में बढ़े श्याम ने तुम्हें बुलाया है, गँवार और दुर्निवार श्याम ने

तुम्हें बुलाया है। इस भादों में रपटनवाली पगडंडियों पर फिसलने से बचते हुए, लेकिन दौड़ते हुए जाना है, श्याम ने बुलाया है। उस सनातन लीलामय ने बुलाया है जो गौओं की धूल से स्वयं सने हैं, तुम्हें भी कीच-कांदों में रपटाना चाहते हैं। सावन सूखा गया तो गया, नीम कटा, झूला न पड़ा, न सही, प्रासाद में पहरे के भीतर हो, रहो पर यह बुलावा कठिन बुलावा है। एक ऐसा काला चित्त है, जो सब रंगों को सोख कर काला हो गया है, वह चित्त जब तक उद्विग्न नहीं होता, तब तक श्यामा कहीं भी रहे, पर वह जब उद्विग्न होगा तो सारा 'जगत् उद्वेग' जायेगा। तब श्यामा को सोचना होगा कि—

"जाऊँ तो जात घुल्यो रँग है रँग राखौं तो जात सबै रँगु है।" पुकार सुनकर चलूँ तो नयी रची मेंहदी का रंग छूटा जाता है और यह रंग बनाये रखने का लोभ करके तो जिन्दगी का सारा रंग चौपट हुआ जाता है।

मैं सोचता हूँ, सावन सूखा गया, भादों की राह देखूँ, मन से विदा न दूँ। स्वाधीनता अपना रंग जाने नहीं देगी, उद्वेग-भरे वन के विह्वल जामुनी रंग से एक पुकार उठने को बस देर है। अभी उद्वेग नहीं है, कोई बात नहीं, अभी बात केवल पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में खण्डित है, और अभी सुविधाओं का दबाव बहुत भारी है, पर जब सब कागज हो जायेगा, सुविधा भी, सुविधा का दबाव भी, तब सारे रंग एक ही बौछार में घुलकर एक रंग हो जायेंगे, वह रंग होगा श्याम। आँखों में केवल काला रंग करोड़-करोड़ मनियर साँप की तरह लहरायेगा, ऐसी आँखों में व्यक्ति की आकुलता का जहर, समष्टि की आकुलता का जहर बन कर श्याम को बुलावा भेजने का सिग्नल देगा, अब अबेर न करो, जहर उफन आया है, इसी समय अमृत की सब से ज्यादा प्यास महसूस होती है, अब मौका आ गया है कि जहर उतारो, जहर जो वातावरण में है, जहर जो सत्ता के अन्तस्तल में है। अमलाशाही और कुर्सीशाही की हवेलियों में कैद स्वाधीनता को अपने घर में बुलाओ, काले मेघों की छाया में पंकिल धरती की गोद में, कदम्बों के सौ-सौ केसरों की गन्ध से लदी उन्मद बयार के नशीले झोंकों के बीच, इस निपट अँधेरी रात में बुलाओ, स्वाधीनता का रंग लौट आये; उसे अपने असली रंग की पहचान हो जाये, उसे याद आ जाये, उसने दूब से अपना रंग पाया है, धरती पर बिछी हुई, बराबर रौंदी हुई, पशुओं से चरी हुई दूब से!

पर भादों बहुत दूर है। सावन में धूलि उड़ रही है। पहाड़ियाँ आग-भभूका हो रही हैं, आदमी के बनाये सागर तलैया हो रहे हैं, पानी का स्तर तेजी से गिर रहा है, पानी बिना सब सूना है। खेत-जंगल, घर-बियाबान, भीतर-बाहर सब सूना है। इसीलिए पूरी जीवन-दृष्टि सूनी है और इस बेपानी सूनेपन में स्वाधीनता निर्वासन झेल रही है।

••

सही बात यह है कि हिन्दू धर्म के प्रति हमारी आस्था मे ही कहीं ठहराव नही है। उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ से, तथाकथित पुनर्जागरण के बाद, एक अजीब उलटफेर हमारी मूल्यांकन पद्धति मे हुई है; बजाय इसके कि हम पश्चिम के नये प्रभावों को अपने पैमानों से नापने, हम अपने ही मूल्यों को पश्चिमी पैमानों से नापने लगे। मूर्ति को परोक्ष का प्रतीक या माध्यम माननेवाला धर्म, प्रत्यक्ष को परोक्ष का द्वार माननेवाला देश मूर्ति-मोह का शिकार हो गया, प्रत्यक्ष पूजा का आराधक हो गया। श्रीकृष्ण और श्रीराम के ऐतिहासिक चरित परिमापित किये जानेवाले नित्यलीला के असली और जन-जन मे अभिव्याप्त उद्देश्य को भूलकर ऐतिहासिक लक्ष्यसिद्धियों मे हम भटकने लगे। ईसा मसीह ने इतिहास का एक लक्ष्य पूरा किया तो श्रीराम और श्रीकृष्ण ईसामसीह के आगे छोटे पड जायेंगे, इस भय ने हमारी हिन्दू दृष्टि मे ऐसा विपर्यास जगाया कि तत्काल एक चौड़ी दरार पडी। सामान्य अशिक्षित जनता का धर्म (काफी हद तक अंतर्विरोधों, असंगतियों और अनाचारों वाला धर्म) एकदम अलग हो गया, शिक्षित चुने हुए (ईश्वर द्वारा नही, बल्कि पश्चिमी आक्रामक संस्कृति की नयी शक्ति द्वारा) लोगों के स्पष्टत: परिभाषित, तर्क-सगत, नवघटित धर्म से। राजा राममोहन राय की जय हो, भारतीय बौद्धिक पुनर्जागरण के पितामह बंकिम चट्टोपाध्याय की जय हो, हिन्दू धर्म को नये तगादों के डर से सिकुड़ कर भीतर घुसना पडा। उसका विवर्तमान रूप पीछे की खिडकी से निकल कर अलग रपटनवाली पगडंडियो पर अलख जगाने चल पड़ा और फिर अलग सिंह—पौर से उसका बडा सजा—संवरा रूप राजमार्ग पर शानदार रथयात्रा के जुलूस मे परिणत हो कर आगे बढने लगा। और चलते-चलते एकाएक पता नहीं निरंतर चढ़ती फूलमालाओं के बोझ से या रथ ढोनेवाले विचारकों की थकान के बोझ से रथयात्रा एक जगह ठहर गयी।

••

पर अलख जगानेवाला रमता जोगी चलता ही रहा, जाने कितनी डगरो पर रमता ही रहा और कोई सुने न सुने, गाहे-बेगाहे अपनी धुन मे गाता ही रहा।

••

रथयात्रा रुकी हुई है और सुदेसी कन्धे हार गये तो विलायती कन्धे उसे उठाने की कोशिश कर रहे है; 'योगा-ड्रग' चढ़ा कर और रथ है कि टस से मस नहीं होता और रथ के वाहक पानी पी-पी कर कोसने लगने हैं, भरे रथ के बोझ को

यान्त्रिक रथ भंजक (ऑटो टेकर) अपने उठाऊ यन्त्रों से रथ को टांग कर ऐसे रथों के कचरा-बाडो अर्थात् समाजशास्त्रीय विश्लेपण करनेवाले संस्थानों में लाद कर ले जाने के जुट आये हैं और चूंकि ये रथभंजक पगडण्डियो पर जा नही सकते, इसलिए राजमार्गवाला रथ ही इनकी विश्लेपण तुला पर चढाया जा सका है, पैरो को रथ मानकर चलनेवाले जोगी की अलख अभी पकड मे नही आ रही है। विश्लेपण शुरू हो गया है। हिन्दू संसार में बस कुरूपता, बेढंगापन, गन्दगी, अश्लीलता, अनैतिकता और असभ्यता ही नजर आने लगी है। पर कौन इन विश्लेपकों से माथा-पच्ची करे कि हिन्दू धर्म अपने को पढे-लिखे कहने वाले सत्ता के बाद पुत्रो का अधमरा विश्वास नहीं, जिसे वे केवल जनतंत्रीय अनुकम्पा भाव से अपने घर के कोने मे जोगाये हुए हैं। यह लावारिस शव नही जिसे कुछ चाँदी के टुकडो पर खरीद कर चीर-फाड घर मे प्रशिक्षण के लिए लाया जा सके। हिन्दू धर्म एक जीवंत उच्छ्वास है। हिन्दू देवी-देवता केवल आराध्य ही नही, आराधक भी हैं। मानस-पाठ होगा तो हनुमान जी चुपचाप एक गोलियायी गमछी पर बैठ जायेंगे। अन्धे सूरदास का डण्डा हाथ में लेकर बालकृष्ण आँखमिचौनी का खेल रचने लगेंगे। विवाह के गीत मे श्रीराम बनरा बन जायेंगे और अपनी माँ-बहन के लिए सौ-सौ गालियां सुनकर मुस्कराते रहेंगे। शकर गौरा-पार्वती के साथ कभी फगुआ खेलने निकलेंगे, कभी माघ मेले के रास्ते में भिखमगा बन कर बैठ जायेंगे, कोई माघ-नहान का पुण्य एक चुटकी देता जाय।

••

जिस रघुवर के बिना अयोध्या उदास हुई, वे रघुवर आज भी सीता-लक्ष्मण को लिए चित्रकूट मे घूम रहे हैं, सीता जी की रसोई आज भी जग रही है। जाने कितनी अयोध्याएँ हैं, कितने चित्रकूट हैं, कितनी सीता वनियां हैं, कभी भी समाप्त नही होती। पर राम असंख्य मिथक (पुरावृत्त) नही हैं राम उन सब मे सूत की तरह पिरोये हुए के अनवाच्छिन्न नाम है, जिसमे एक मोती के बाद दूसरा मोती, एक मनोरम आख्यान के बाद दूसरा आख्यान पिन्हता चला जाता है और राम असख्य घटनाओ के सिरो पर लात रखते चले जाते हैं। ऐसे राम कब बीते और कब बीतेंगे ! वे हैं और वे वर्तमान ही रहेंगे। इसी-लिए उनके लिए ऐसा छोह है कि मेले के गीतो की दूसरी फटी आक्रोश मे पुकार उठती है—'राम बेईमान अकेले छोडि गइलें'। राम ने बडी बेईमानी की, अकेले छोडकर चले गये, उन्होने केवल सीता-लक्ष्मण को ही अपना सगा समझा, हम लोग उनके लिए कुछ नहीं। अब किस हृदय से इस उच्छ्वसित आवेग को धर्म की सीमा के बाहर कर दिया जाय। क्या महज झूठ के बल पर इतने कोटि-कोटि जन संतरण का विश्वास सँजोये हुए हैं जीवन मे, मरण

मे ? क्या धर्म का चरम सत्य इतना परिभाषित है कि उसकी परिधि में सीधी और घरू प्रेम-प्रतीति नही आ सकेगी ? और क्या ईश्वर के भी शहरी और देहाती दो संस्करण होते हैं और केवल शहरी संस्करण ही प्रामाणिक माना जाता है ? क्या धर्म संस्था-बद्ध रूप में ही केवल रह सकता है ? इतने सारे प्रश्न उठते हैं और राम को बेईमान बनाने वाली धार्मिक भावना के मुकाबले कोई सच्चिदानन्द संदोह रूप की स्तुति नहीं आती। उस स्तुति का स्वर कही दब जाता है, दार्शनिक चिंतन कुछ फीका पड़ जाता है, और ऐतिहासिक वीर-पूजा का भाव तो स्वांग लगने लगता है। जब रामास्वामी नायकर के चेले कागजी राम पर चप्पल बरसाते हुए जुलूस निकालते हैं, तो उन्हीं चेलों के सिर पर पाँव रखकर राम मुस्कराते रहते हैं—जिसके ऊपर जूते वरसा रहे हो, वह तो तुम्हारा ही भूत है, राम तो यहाँ है, उस पर बरसाओ तो जानें। इस जुलूस को आधार मानकर जो लोग धार्मिक पवित्रता का आन्दोलन खड़ा करना चाहते हैं, वे भी राम को भूल जाते हैं। राम की पवित्रता राम को भक्ति करनेवाले हृदय के लिए है, वह पवित्रता भावना के साथ एकाकार है, जहाँ भावना नहीं, वहाँ पवित्रता कैसी ? जो चीज अपने सन्दर्भ मे नही स्थापित है, वह अधूरी है, वह अश्लील है और खण्डित वस्तु की अश्लीलता से अखण्ड पदार्थ का क्या बनता-बिगड़ता है ? राम कुछ चित्रों तक, कुछ मूर्तियों तक, कुछ कृतियों या कुछ स्मारको तक ही सीमित रहते हैं तो फिर उनका अपमान हो सकता था। पर राम का अपमान कौन कर सकता है ? रावण भी राम का अपमान नहीं कर सका, सीता का हरण करके भी सीता धर्षण नही। कर सकता, राम का रूप धारण करने का मंत्र जानता हुआ भी सीता के सामने राम बनकर न उपस्थित हो सका, क्योंकि उसने राम की भावना की थी, भले ही शत्रु भाव से की हो। इसलिए जो भावना कर चुका है, वह अपमानित राम को करेगा कैसे और जो भावना शून्य है, उसके अपमान की पकड में आयेंगे कागज के टुकड़े, निर्जीव मूर्तियाँ, गूँगी कितावें।

••

राम ने बहुत अरसे से अयोध्या छोड़ रखी है, कृष्ण ने मथुरा छोड रखी है। इन राजधानियो मे, इन संस्थानों मे राम या कृष्ण नही मिल सकते। जहाँ उनकी भावना होती रहेगी, निश्छल भाव से जहाँ उन्हें बुलाया जायगा, वहीं रहेंगे। राजधानियों मे बड़ी तपन है, बहुतों को राम या कृष्ण की उपस्थिति ही बर्दाश्त नही होती, बहुतों से उनकी प्रसन्नता नहीं सही जाती, बहुतों की कुचर्चा के वे शिकार होते हैं। इसीलिए वे राम चित्रकूट के घाट पर तुलसीदास

को तिलक देने के लिए विराजमान रहते हैं, उस चन्दन से तिलक करने के लिए, जिसे तुलसीदास उनको चढ़ाने के लिए घिस रहे थे। कृष्ण गँवार ग्वालिनों के घर में मक्खन चुराने के लिए घूमे रहते हैं। राजधानी में ये मज़े कहाँ ? ऐसे राम-कृष्ण के पीछे चलता हिन्दू धर्म जीवन धर्म है, इसमें जन्म-तिथि ही जयंती के रूप में मनायी जाती है, पुण्य-तिथि केवल पिता की मनायी जाती है, क्योंकि पिता की मृत्यु की घटना जीवन से जुड़ी है, क्योंकि मृत्यु के अनन्तर ही पिता का सारा ऋण पुत्र में संक्रांत हुआ है। गँवार हिन्दू श्राद्ध की सारी विधि पूरी करे न करे, दाह-संस्कार करने के बाद एक पीपल के पेड़ के नीचे एक घट जरूर बाँधता है। उस घट में नीचे एक छोटा-सा छिद्र कर दिया जाता है। प्रतिदिन उस घट में पानी भरा जाता है और यह अपेक्षा की जाती है कि पानी निरंतर पीपल की जड़ पर गिरता रहे। उस घट के पास प्रतिदिन दीप जलाया जाता है। यह जीवन की साधना नहीं तो क्या है ?

••

महाप्रयाण के लिए गया जीवन ही उस घट के रूप में सनातन काल की डालों में उतने दिनों तक लटका दिया जाता है, जितने दिन प्रतीक रूप में उसे नया जन्म ग्रहण कर लेना है। और तब इस प्रतीक की आवश्यकता नहीं रह जाती, भौतिक शरीर आग को सौंपा गया था। इस प्रतीक की सार्थकता समाप्त हो गयी, इसे भी फोड़ दिया जाता है : 'फूटा घट-घट घटहिं समाना'। एक व्यष्टि चैतन्य समष्टि में समाहित हो गया। भौतिक अवशेषों को गंगा की धारा में या तीर्थ में प्रवाहित करने के पीछे भी जीवन की निरंतरता की खोज की भावना है। भस्मभूत अवशेष एक अध्याय की समाप्ति के प्रतीक भर हैं, वे सर्वथा अशुचि हैं, उन्हें छूने से आदमी अपवित्र हो जाता है, क्योंकि आदमी मृत्यु को छूने के लिए नहीं बना। आदमी की देह जीवन के पार जीवन की तलाश के लिए साधनधाम है, ऐसा साधनधाम जो देवताओं को मयस्सर नहीं।

••

पर आज बिलकुल उल्टा है। अस्थियाँ पवित्र हो गयीं, उनको रजतघटों में रखा जाने लगा और चुपचाप प्रवाहित करने के बजाय बड़े जुलूस के साथ उन्हें एक जगह नहीं, सैकड़ों जगह प्रवाहित करने का उन्माद शुरू हो गया। प्रवाहित करके रजतघट स्थायी प्रदर्शन की सामग्री बन गए, उनको गंगा-लाभ नहीं हो सका। मृत्यु की पूजा इतने भोंड़े तरीके से शुरू हुई कि मुझे स्मरण

है, महात्मा गांधी का लोगों ने गाँव-गाँव दाह-संस्कार किया, मेरे बाबा तब जीवित थे, उन्हें बड़ा बुरा लगा—गाँव-गाँव साल-साल रावण फूंका जाता है, संत का यह अपमान क्यों? पर मृत्यु-पूजक धर्म का ज्वार इस देश में बहुत पहले आ चुका था और मृत्यु-पूजा प्रतिष्ठा की बात समझी जाने लगी। श्राद्ध में पिता का ध्यान भास्कर तेज-पुंज के रूप में करने के लिए कहा जाता है, पिता की तस्वीर का ध्यान करने को नहीं कहा जाता। हिन्दू घर के पितर कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए इसलिए हर उत्सव में न्यौते जाते हैं कि हम बीच की कड़ी हैं, उनका पार्थिव शरीर बिल्कुल महत्त्व नहीं रखता, न उनकी आकृति, न उसका कोई भी भौतिक प्रतिनिधि। महत्त्व रखती है उनकी भावना, भावना जीवन की कड़ी के रूप में, प्रकाश के रूप में। आज इतने चौराहों पर जो मूर्तियां स्थापित हो रही हैं और दूसरे दिन वे ही मूलुंठित की जा रही हैं, इसके पीछे मृत्यु-पूजा का ही भाव और मय काम कर रहे हैं। जो चला गया, उसकी पार्थिव आवृति इतिहास के लिए जरूरी हो, पर उसकी पूजा क्यों, पूजा हो तो उसके वैचारिक रूप की पूजा हो, जीवन में जो रूप आत्मसात् हुआ है, उसकी पूजा हो। जो रीत गया, फूट गया, उसकी पूजा क्यों हो? पर आज जो इस मूर्ति मोह का खण्डन करे, वह पागल ही समझा जायेगा।

••

अवध इसीलिए तो उदास हो गया है, क्योंकि वहाँ राम इतिहास भर रह गये हैं, ऐसा इतिहास जिसका तिथिक्रम निश्चित करने में ही इतनी सारी उलझनें हैं। सच्चा हिन्दू धर्म विगत के प्रति मोह नहीं रखता, विगत के प्रति मोह वर्तमान जीवी हिन्दू धर्म का स्वरूप हो ही नहीं सकता और न अनागत की उपलब्धि में ही वह जीना चाहता है। यदि ऐसा होता तो स्वर्ग, मोक्ष सब से ऊपर यह कामना क्यों की जाती—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग, न पुनर्जन्म के चक्कर से मुक्ति, मैं केवल दुखियों के पीड़ा निवारण का अवसर चाहता हूँ। यह अवसर वर्तमान का ही वरण करता है। जो कुछ भी जैसा भी जीवन चारों ओर है, उसकी साझेदारी, यही हिन्दू धर्म का प्राणभूत तत्त्व है। और यह न हो तो राम के बिना अयोध्या सूनी हो जाती है। ऐसी अयोध्या में कौन रहेगा?

••

जिन लोगों ने मूर्ति-पूजा का वास्तविक स्वरूप छोड़कर नयी मूर्तियों को गढ़ना और उनसे चिपकना शुरू किया, उनके विजडित धर्म के साथ कैसे रहा जाये ? यहाँ तो मूर्ति बनाते हैं, उसमे प्राण डालते हैं, उसे नैवेद्य अर्पित करते हैं और फिर उसमे आवाहित देवता को विदा देकर उस मूर्ति को किसी तुलसी के चौरे पर, किसी पीपल के नीचे, किसी नदी में विसर्जित कर देते हैं, उसको जीवन से रस ग्रहण करनेवाले आरोही वनस्पति को या जीवन की धारा को समर्पित कर देते हैं कि जीवन नया आकार ले। राम रचना नहीं, कल्पना नहीं, इतिहास नहीं, मूर्ति नहीं, रचना की प्रक्रिया, कल्पना की छटपटाहट है, इतिहास की बदलती हुई व्यवस्था है। मूर्ति अधूरेपन की जागरूक स्मृति है। उस राम का छन्द मंथराओंवाली राजधानी से नहीं मिलता, सत्यनारायण की कथा सुननेवाले ज्योतिषियो से फल विचरवानेवाले, चुनाव मे जीतने के लिए चण्डीपाठ बैठानेवाले और अंग्रेजी मे योग और वेदात पर चर्चाएँ आयोजित करनेवाले, हिन्दू धर्म की प्रदर्शिनी अपने घर की दीवारों पर टंगनेवाले कैलेंडरों मे लगनेवाले, परन्तु भीतर-भीतर हिन्दू धर्म से घबराने-वाले हिन्दूपन में हीनता अनुभव करनेवाले बुद्धिजीवियो, धर्म-निरपेक्षतावादियो और उन्नायकों के साथ भी राम का छन्द नहीं मिलता। राम का छन्द मिलता है क्रौंचवध के कारण उमडी हुई करुणा और करुणा से उद्दीपित क्रोध के साथ। राम का छन्द मिलता है, निरन्तर राम की तलाश मे व्यग्र उस लोक-भावना के साथ, जो जन्म होता है, तो राम का जन्म मान कर गीत गाती है, विवाह होता है तो राम के रूप मे वर की पूजा करती है और सीता के रूप मे वधू की प्रतिष्ठा करती है और मृत्यु आती है तो उस मृत्यु को भी जीवन-सत्य राम के नाम से नकारने की कोशिश करती है। राम का छन्द मिलता है 'सूधे मन सूधे वचन सूधी सब करतूति, तुलसी सूधी सकल विधि रघुवर प्रेम प्रतीति' ऋजुता से। अयोध्या से ऋजुता विदा हो गयी है। कैसे उस अयोध्या मे रहा जाये ?

••

अयोध्या मे राम लौटें या न लौटें, इससे हमें क्या मतलब, हमे तो राम की लीला मे अपने को कही स्थापित कर देना है, आज वह वन में हो रही है, हम वहीं रहेंगे। हमें राम ने क्या किया, राम के साथ क्या घटित हुआ, राम के पक्ष मे क्या चर्चा हुई, विपक्ष मे क्या चर्चा हुई, इसमें क्या लेना-देना, जब राम हमारे बीच में हैं, उनसे हम सीधे लड़-झगड़ सकते हैं, जो कुछ सुलझाना होगा, सुलझा सकते हैं, राम का ईमान उन्ही के सामने खराद पर चढ़ा सकते हैं।

माना राम रेतीले, कंकरीले, पथरीले, कटीले रास्ते पर चल रहे हैं, और यह ऐश का रास्ता नहीं है, रागभोग का भी रास्ता नहीं, 'कबहुंक भोजन बारि बतासा' का रास्ता है, पर इस रास्ते पर राम चल रहे हैं, इसलिए दूसरा विकल्प जो भी होगा रामहीन विकल्प होगा और 'सो सब धरम-करम जरि जाऊ। जेहि न राम पद पंकज भाऊ।' उस रास्ते पर आग लगे, जिस पर राम के चरण नहीं पड़ रहे हैं। ऐसे रास्ते पर इतना उल्लास मिलता है, यह क्या इसका प्रमाण नहीं कि राम वहीं छिपकर मुस्करा रहे हैं जहां गाया जा रहा है—'राम बेईमान अकेले छोड़ि गइलैं'। राम ने बेईमानी की, अकेले छोड़ गये। मुस्करा रहे हैं कि इस गीत के गाने पर भी कैसा अकेलापन क्योंकि अकेलेपन की सही पहचान ही तो राम की उपस्थिति है।

खामोशी की झील

अभी-अभी दिल के दौरे से उठा हूँ, या ठीक-ठीक कहूँ, मुझे अभी उठने नहीं दिया जा रहा है। इसलिए एक ऐसे अनुभव से होकर गुजरा हूँ कि लगता है सब कुछ वही है, वे ही दरख्त और कुंजन हैं, वे ही परिजन हैं, वही हेमन्तीय हरियाली की चादर ओढ़े अपना विश्वविद्यालय है। वही समाधिस्थ बौद्धिक वातावरण है, वे ही प्रतिष्ठानगत शिष्य हैं (शायद संशय उनमें विद्या के विषय में कभी उठा ही नहीं, जन्म से ही संशयों के अगोचर हैं) वही सामने की साल-भर से बन रही अनवच्छिन्न सड़क पर बजरी बिछने, रोलर चलने और फँसी हुई मोटरों-ट्रकों के भोंपू की शोरभरी जिन्दगी की चिचियाहट है, सब-कुछ वही है; पर मैं बदल गया हूँ। दिन कितने बिजलीमापकों की बन्दिशों के सन्दर्भों से गुजरा, कहीं कुछ डॉक्टरों की आँकी-बाँकी धड़कनों की रेखाओं में खास बात यानी किसी उलझन या परेशानी की बात नजर नहीं आयी। खून जाने कितनी बार निकाला जा चुका, वह भी कुछ बोलता नहीं। पर इतने परहेजों, इतनी हिदायतों, इतने नुस्खों, इतने अनुभवों की मार दिन-प्रतिदिन पड़ रही है कि चुपचाप मान लेता हूँ कि दिल की कली अगर चटकी नहीं तो कम-से-कम एक बार कुनकुना तो जरूर चुकी है और धीमी रफ्तार की लाल बत्ती रास्ते में आकर एकाधिक बार घूर चुकी है।

कई बार सोचने की कोशिश करता हूँ ऐसा नादान दिल तो नहीं होना चाहिए और ऐसा कोई खास दबाव भी नहीं पड़ा लगता है और एकदम सपाट मुदर्रिसी की जिन्दगी जीता रहा हूँ, कम-से-कम चार-पाँच वर्षों से तो कोई चढ़ाव-उतार भी नहीं, फिर यह क्या हो गया कि सब कुछ अंकित करता हूँ, बोलने की इजाजत नहीं। बस खामोशी की झील बन गया हूँ।

अस्पताल में दाखिल हुआ तो हर एक गतिविधि पर नियंत्रण लग गया, हिलिए-डुलिए मत, बोलिए मत, पढ़िए मत, लिखिए मत, बहुत सोचिए मत, चुपचाप लेटे रहिए, मिलिए-जुलिए मत और दरवाजे पर गारद लगा दी गयी। खैर, सुबह-शाम कुछ कृपालु मित्रस्नेही आ ही जाते थे। उन्हें देखने और उनकी बात सुनने की मुमानियत नहीं थी, और किताब पढ़ना छूट गया था, मैं दिल-नियों के चेहरे पढ़ता था। किसी-किसी चेहरे पर उत्कंठा थी कि अभी तक इस आदमी को झेलना है, किसी-किसी चेहरे पर हितचिंता की संजीदगी थी कि

आप बिल्कुल अपने को दीन-दुनिया से अलग कर लें, जिन्दगी है तो जहान है, : अपनी सेहत बनाइये, छोड़िए सब प्रपंच, किसी-किसी चेहरे पर गहरी निराशा और अजीब-सा संकोच, काम कुछ मुझसे लेना है, कह नहीं सकते, लगता है नाव डूबने-डूबने को है, किसी-किसी चेहरे पर कोई भाव नहीं, बस एक खिसियाई हुई दतनिपोर हँसी, आप फिक्र न करें, अब थोड़ा सावधान रहे, ठीक हो जायेंगे, और किसी-किसी चेहरे पर अजीब रोष, बस आप अपने मन की नहीं कर सकते। और मैं इन तमाम चेहरों को पढ़ता था, मैं तरह-तरह की बातें, सिखावन, उलाहने, मीठे ताने, विषभरी सान्त्वनाएँ, अधमरी सहानुभूति और नीरव टप-टप बूँदें—सुनता था। हर एक छोटे-बड़े ढोके की चोटों के स्पन्दनों के आवर्त उठाकर विलीन हो जाता था, फिर रात में शामक दवाओं का असर होने तक उन्निद्र आँखों में एक विराट् आकाश झिलमिलाने लगता था। उसी समय श्रीमद्भागवत का पहला स्कन्ध चोरी-चोरी पढ़ता रहा। मुमूर्षु भीष्म की स्तुति पढ़ी—

> स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुम् वप्लुतो रथस्थः।
> धृतरथ व रणोऽम्यया च्वलदगुहरिखि हन्तुमिभंगतोत्तरीयः॥

क्या चुनौती है, मृत्यु सामने खड़ी है, और चित्त इतना सुस्थिर कि प्रसन्नवदन भगवान् कृष्ण पैताने खड़े और स्मरण किया जा रहा है उनके उस रूप का, जब शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा भूलकर अपने भक्त की बात रखने के लिए रथ से उतर पड़े, कुछ न मिला तो रथ का पहिया उखाड़कर हाथ में ले लिया, कंधे से पीताम्बर खिसक गया, एकदम अकुलाकर जैसे शेर विशालकाय हाथी पर झपटे वैसे मारने दौड़ पड़े; वे मेरी आँखों में उसी रूप में बस जायें। वे आकुल, मैं मृत्यु के वरण के लिए शान्त भाव से तैयार, मृत्यु के समय भी आज उन्हीं को अकुलाया देखूँ। छः महीने तक अनाकुल भाव से उसी अकुलाए रूप का ध्यान किया है, सामने वे अनाकुल हों भी तो क्या? वे मेरे लिए अकुला जाएं तब मेरी मृत्यु सार्थक हो जाय।

बड़ा ढाढ़स बंधा, मृत्यु की विराट् नीलिमा अनन्त ज्योतिष्क पुंजों से उद्भासित हो उठी, खामोशी की झील जगमगा उठी। जीवन इस उद्भास के बिना अधूरा ही रहता। लगा, आसपास के ठूँठ पेड़ों की छाया, बन्धे की कँटीले झाड़ों के काले साये इस रोशनी में घुलकर विलीन हो गए। स्पन्दनों के गहरे काले चक्रावर्त रूपहिल हो गये। मुझे एकाएक लगा कि दिल के दर्द के द्वारा ही अपने को इतना निरावृत किया जा सकता है कि उस निरावृत काई-छँटी दर्द की नीली झील में यार की झाँकी पायी जा सकती है और फिर उसके बाद दोनों जहाँ के ऐश को खाक में मिलाने का संकल्प किया जा सकता है। इतनी

प्रतिष्ठा का रोग पालकर ही आदमी निहंगों के रसहीन स्वादहीन भोजन का अधिकारी बनता है, ऐश के तमाम साधनों के बीच रहना हुआ साकार बनता है फकीरी का धर्म निभाने के लिए, क्योंकि उसे हरएक उत्तेजना से बचना है, हर एक भोग की अतिशय कामना से बचना होता है, उसे हर एक-एक परोप-कार के उत्साह से बचना होता है, या फिर एकदम बेफिक्र होकर डेरा कूच करने के लिए तैयार रहना होता है। बिना तामझाम के जब इतना भी इशारा मिल जाय चल देना है, यही एक भाव लिए। ऐसा क्षण जब आयेगा झील के ऊपर एकाएक एक पहाड़ उतर आयेगा, उस पहाड़ के रन्ध्र से झील चुपके से निकल भागेगी। पर खामोशी तब भी नहीं टूटेगी। ऊपर का शोर जितना हो, झील खामोश रहेगी, अपनी निस्पन्दता में भी और अपनी द्रुतधाविता में भी।

जान-बूझकर बहुत कम मित्रों को मैंने पत्र डाला, तब भी असंख्य अयाचित चिन्ताक्रान्त अनुकम्पाओं के अम्बार मेरे सिरहाने जमा हो गये, सबको पावना भेजना भी मुश्किल हो गया। तब कोशिश की कि अपने चारों ओर के तटबन्ध और ऊँचे कर लूँ, पर यह कुछ चल नहीं पाता। जीना मरने से कहीं मुश्किल है और जीने से बचने के लिए मरने का वरण तो लगता है हद दर्जे की कायरता है। तटबन्धों को ढाह कर अपनी गहराइयों को उलीचकर उमड़ा देने से जो जीवन का उमड़ाव आता है, वही शायद जीना है। उदासियों की छाँव झेली नहीं जाती और खामोशी के बंधाव में बड़ी कसमसाहट है। यही क्या कम है कि इस खामोशी के लम्बे दौरे ने एक झटके से मृत्यु को उद्भासित करके मृत्यु के अजनबीपन से पैदा होनेवाले भय को अपास्त कर दिया है। और जब भय नहीं तो वह जब कभी भी आये, वही जानी-पहचानी सूरत होगी, उसके साथ चलना भी वैसा ही चलना होगा जैसे—किसी संगिनी के साथ चलना होता है, ऐसी संगिनी जिसके लिए बार-बार पीछे मुड़कर देखना पड़ता है, कहीं ज्यादा पीछे तो नहीं छूट गयी, किसी बिसाते के सामान के सामने विलय तो नहीं हो गयी। और तब यह खामोशी की झील दरिया की जिन्दगी के रूप में अपने को ढाल देगी क्योंकि मैं मानता हूँ—

> दरिया की जिन्दगी पर सदके हजार जानें।
> मुझको नहीं गवारा साहिल की मौत मरना ॥

और जीवन अनन्त पारावार से एकाकार होने के लिए कब तक झील बना रहेगा, वह झील मानसर ही क्यों न हो, जीवन तब तक इससे रुँधा रहेगा, अगर उसे मौजों की बहार लेनी है तो विजनीकरण को तोड़ना ही होगा और इस खामोशी को वशीरव में मुखरित करना ही होगा। तभी जीवन अर्पणीय बनेगा और मौनमुकुल बनेगा कमलोपहार।

राधा
माधव हो गयी

हमारी शिक्षा ने बचपन में कुछ बड़े ही अस्वस्थ संस्कारों के बीज बोये और मैं तो अपने को भाग्यशाली मानता हूँ कि श्रीमद्भागवत पर शोध का कार्य इन संस्कारो की छाया में शुरू तो किया, पर कई कारणों से वह कार्य अधूरा रह गया और जो उस समय मैं लिखता, वह पाप होता, उससे मैं बच गया। उस जमाने में दो भूत बड़े जबर्दस्त थे। एक तो ब्रह्म का, जिसके कारण भागवत में 'बिल्कुल ब्रह्मवाद' देखने के लिए आँखें फोकस कर दी गयी थीं, दूसरा था 'पश्चिमी छूँछी नैतिकता के आग्रह का, जिसके कारण सनातनी 'कल्याण' भी यह सफाई देता था कि श्रीकृष्ण तो केवल पाँच-सात वर्ष के थे, उस समय रासलीला में कोई वैसी बात सोची नहीं जा सकती। गीतगोविन्द को भक्ति का ग्रन्थ मानने के लिए पढ़ा-लिखा तर्क-बुद्धि आदमी तैयार नहीं होता था। इसीलिए एक निर्जीव और भावहीन चिन्तन के गुंजलक में हम सभी लोग गिरफ्त थे और गोपी-प्रेम को हम लोग या तो प्रतीक मानकर ही किसी तरह भक्ति का दामन बचा सकते थे या फिर और ऐतिहासिक पाण्डित्य का लबादा ओढ़कर आभीर-कृष्णवाली लीलाओं को बाद का क्षेपक मानकर एक शुद्ध गीतावादी कृष्ण को इतिहासपुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करके अपना सांस्कृतिक अभिमान सुरक्षित रख सकते थे।

पता नहीं, कैसे इस गुंजलक से मुक्ति मिली, पर आज भक्ति की पात्रता अपने में पाऊँ, न पाऊँ, इतना तो है ही कि चाहे गीतगोविन्द मणिपुरी और ओडिसी नृत्यरूपान्तर का प्रभाव हो, चाहे काँगड़ा गुलेर के चित्रों का चाहे विदेश में रह कर अपने देश को पहचानने की नयी कोशिश का, अब भयंकर आधि-व्याधि में भागवत का पारायण उस आधि-व्याधि को जीवन के महनीय क्षण मे, जीवन के स्पृहणीय क्षण में जरूर रूपान्तरित कर देता है; क्योंकि तब वह क्षण-क्षण (उत्सव) बन जाता है। अपनी श्यामलता में अशेष अन्धकार को आकृष्ट करने वाले मेघमेदुर कृष्ण के साक्षात्कार हो न हों, अपना अन्धकार भी प्रिय हो जाता है; क्योंकि वह अन्धकार ही प्रकाश का एकमात्र झरोखा मेरे जैसे साधारण आदमी के लिए हो सकता है; प्रकाश की पूँजी पर जो

इसरायें, उनकी बात अलग है, क्योंकि देखता हूँ उस कृत्रिम प्रकाश ने जिस जली काली छाया को जन्म दिया है उससे यह स्निग्ध अन्धकार लाख गुना प्रेय है, और साथ ही साथ श्रेय भी।

अब जब भागवत पढ़ता हूँ तो उसका पहला स्कन्ध बड़ा सार्थक लगता है, अर्जुन के शोकगीत को पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगता है जैसे भगवान् अभी-अभी मुझे ही धोखा देकर चले गये और उनके जाते ही मेरा कहा जा सके ऐसा कुछ भी नहीं रहा। यह भी लगता है कि राधा नाम भागवत में आया या नहीं, राधाभाव ही भागवत की पराभूमिका है; यह न होता तो भीष्म, शुकदेव, नारद, उद्धव जैसे तत्त्वज्ञानी को भी यह स्पृहा क्यों होती—'राधा कौन कहे, सामान्य गोपी की भी चरण-धूलि जहाँ लगी हो, उन झाड़ियों, वनौषधियों, लताओं का भी कुछ हो पाता तो भक्ति के परमफल का कुछ स्वाद तो मिल जाता।'

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥"

मैं भागवत धर्म को एक पोथी मे बँधा धर्म नही मानता, मैं इसे मनुष्य की अनन्त भावयात्रा का प्रक्रिया धर्म मानता हूँ और यहाँ इसी रूप मे इसे प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

भागवत का सूत्रपात उचाट से होता है, अठारह पुराण, महाभारत और वेद की संहिताओ के सम्पादन के बाद भी व्यासदेव को लगता है जो करना चाहिए था, वही नही किया है और सरस्वती के किनारे अनमने भाव से सोचते हैं—अपने ही किये से ऐसी उचाट क्यों? नारद समाधान देते हैं—अभी असली बात आपने कही कहाँ? जो वास्तव में वेद्य है, जानने योग्य है और जो शिवप्रद है, जिसमे सहज निष्कपट धर्म भाव रूप मे लीलायित है, जिसमें जगत् को मायापाश से बाँधनेवाले को भी बाँधने का विधान है, ऐसी हरिलीला की बात अभी आपने की ही नही, जिस निष्काम कर्म योग की बात आपने की, जिस ज्ञानयोग की बात आपने की, वह कर्मयोग अपनी सार्थकता अच्युत भाव से प्राप्त करता है, और वह ज्ञानयोग श्यामदृगों में अंजित होकर ही निरञ्जनमल न रहकर ज्योति बन पाता है—

"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।"

आपने अभी तक काकपेय तीर्थों का निर्माण किया, हंसो के एकान्तभाव

से रमने के लिए कोई घर आपने बनाया ही नहीं। आपको ऐसी प्यास ही नहीं लगी, जिसके लगते ही सारी तृपाएँ तृप्ति बन जाती हैं पर जो स्वयं तृप्ति होते हुए कभी भी तृप्त नहीं होती। आपने केवल चार पुरुषार्थों को साधने के जतन बताये पर चारों पुरुषार्थ साधने में जहाँ से नया-नया स्वाद आता है, उसे तो आपने अभी तक साधा ही नहीं। जीवन्मुक्त भी जिस बन्धन को मुक्ति से बड़ा मानकर वरण कर सकें और विषयों में फँसे लोग जिसे विषय के रूप में स्वीकार करके विषयी होते हुए भी विषयातीत हो सकें, ऐसी शाश्वत लीला का आख्यान आपने शुरू ही नहीं किया। शायद इसलिए आप एक कुहासे से ढँके द्वीप में अँधियारे में पैदा होकर भी उस उपेक्षा की पीड़ा से वंचित रह गये, जो इस लीला का अर्थ समझने के लिए सबसे जरूरी शर्त है। मैं उस पीड़ा से गुजर चुका हूँ, एक दासी के पेट से जनमा, केवल हर तरह की जूठन बटोरता रहा निरभिमान भाव से, भोजन मुझे जूठन के रूप में ही मिलता रहा, न पेट भरता रहा न मन भरता रहा। उसी अतृप्ति में मैंने पाया कि पूर्णकाम नारायण भी अतृप्त हैं, वे *सगुण-लीला केवल भक्त के लिए नहीं करते, अपने लिए अपनी बेकली* दूर करने के लिए सगुण लीला रचते हैं और उस लीला को फिर समेट नहीं पाते, क्योंकि जो कोई भी उस लीला में अपने को कभी भी स्मृति में ही सही कहीं खड़ा कर देता है, लीला उसकी आँखों में बस जाती है और लीला-मय उन आँखों में सदा के लिए बस जाते हैं।

भागवत नारद की इस सीख का परिणाम है और भागवत के पहले ग्रहीता इसीलिए जन्म-जात परमहंस शुकदेव हैं, जो सब ओर निराकांक्ष होने के बाद भी भागवत लीला के लिए सतत् साकांक्ष हैं और शुकदेव इस लीला को सबसे पहले सुनाते हैं परीक्षित् को, जिनकी मृत्यु सात दिन बाद होने वाली है, इसलिए इन सात दिनों में अपने उस त्राता की कथा सुन लेना चाहते हैं, जिन्होंने गर्भ में अश्वत्थामा की शक्ति से रक्षा की थी और जिनकी कथा की उत्कण्ठा में मृत्यु जीवन की अतृप्त लालसा बन गयी है।

शौनक ने सूत को यहीं पर टोका—

भगवत्परायण परीक्षित् ने शरीर-त्याग का निश्चय किया कैसे? भगवत्परायण व्यक्ति का शरीर दूसरे के लिए है, उस शरीर पर उसका अपना स्वत्व ही कहाँ, इस भगवदर्पित, इस लोकार्पित शरीर से निर्वेद मोक्षाभिलाषी को हो तो हो, भगवद्भक्त को क्यों हो?

"शिवाय लोकस्य भवाय भूतये य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम्॥"

यह शंका ही भागवत-धर्म की दूसरी भूमिका है। उत्तम श्लोक भगवान् में निरन्तर जीने का अर्थ है लोक-कल्याण के लिए जीना, लोक के अभ्युदय के लिए जीना और सबसे अधिक लोक के दुःख की साझेदारी के लिए जीना, जब तक एक भी कोना उल्लसित होने से रह गया है, जब तक एक भी दुःख का कण अपनाने से रह गया है, जब तक जिन्दगी एक निरन्तर बेचैनी की उम्मदाग्ध यात्रा है, कभी उद्धारक बन कर; कभी उद्धृत बनकर, कभी मोहन बनकर, कभी मोहित बनकर, कभी माधव बनकर, कभी राधा बनकर और कभी-कभी एक ही राधाशरीर में त्वरित क्रम से राधा और माधव बनकर। इस बेचैनी की भी एक शर्त है, दूसरी बेचैनियां इसकी धार में बह चलें, केवल यही एक बेचैनी रहे, जैसे—अनउठे पंख वाले चिरौटे चोंच फैलाये माँ के लिए आकुल हो जाते हैं, माँ चारा लेकर आती होगी, उस समय शीत-घाम, आँधी-पानी कुछ भी मालूम नहीं पड़ता, पास के कोटर में महाव्याल की जीभ लपलपा रही है, इसका भी ध्यान नहीं रहता, बस माँ आ रही होगी, इसी का बेसब्री से इन्तजार रहता है; या जैसे सुबह के बँधे बछड़े को शाम होते ही दूध से भरे हुए थन की याद विह्वल कर देती है, कब हुमच-हुमच कर वह अमृत पीने को मिलेगा, दिन कितना लम्बा खिंचेगा, कब मेरी आतुरता देखते ही दूर से रँभाती हुई माँ के थन मेरे मुँह लगाने के पहले ही पेन्हा उठेंगे; या जैसे दूर अवधि देकर गये प्रियतम के लिए अवधि समीप आते ही आशा-निराशा का निविड संघर्ष छिड जाता है, एक छन होता है, दो दिन बाकी हैं तो क्या आज शाम आ जायेंगे, सवेरे कागा उचरा था, फिर दूसरे छन ही डर लगता है कहीं बिलम तो नहीं गये, कहीं बिंध तो नहीं गये और विषाद साँझ की प्रतीक्षा किये बिना गहरा हो जाता है। वैसी बेचैनी हो, तब जिसे दर्शन देना है, जिसे प्यास मिटानी है, जिसे उपासी आँख को रूप का पारण देना है, वह स्वयं बेचैन हो जायगा, वह 'दीर्घ-दर्शन बन कर आयेगा', पर शर्त है—

आकुलता ऐसी हो—

> "अजातपक्षा इव मातरं खगाः,
> स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः ।
> प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा,
> मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥"

वैसी बेचैनी के बारे में लोगों का खयाल है आजकल संभव नहीं, उस आदिम जमाने में जब संचार-साधन नहीं थे, तब यह आकुलता कुछ माने रखती थी, आज तो दुनिया सिकुड गयी है, दर्शन श्रवण का सुख लाखों-लाखों कोस की दूरी से भी सुलभ है; पर दर्शन की लालसा का क्या अर्थ ?

पर सच तो यह है कि अर्थ आज ही सबसे ज्यादा रखता है; क्योंकि देखना सुनना सिर्फ आँख-कान से नहीं होता, ऐसा होता तो एक ही साथ लोग रहते हैं, दिन-रात एक-दूसरे को देखते-सुनते रहते हैं, पर न वह देखना होता है, न सुनना होता है, एक ही घर में लगता है लोग एक-दूसरे के लिए प्रवासी हो गये हों, परिचय ही दीवार बन गया हो और आँख से देखना कान से सुनना हो भी पर सर्वात्म भाव से देखना-सुनना दूभर हो गया है, क्योंकि बेचैनियाँ इतने प्रकार की इतनी सारी बढ़ गयी हैं कि हर नयी बेचैनी पहली वाली बेचैनी को काटती चलती है, पता ही नहीं लगता कौन बेचैनी सचमुच की बेचैनी है। बेचैनियों की इसी अनवच्छिन्न शृंखला में तो एक दिन ऐसी बेचैनी जुड़ेगी जिसके आगे कोई बेचैनी न रह पायेगी, रह जायेगा एक कगार और कगार के नीचे एक खड्ड काला और डरावना खड्ड। तब बेचैनी जो भी शक्ल लेगी, बेचैनी के जो सबसे बड़े सौदागर हैं, बेचैनी खरीदना और बेचना ही जिनका धन्धा है वे बनजारे दरवाजे पर अपने आप आ जायेंगे। वे बेचने की बेबसी भर देखते हैं, और जान जायें कि मन की कलौंस बेचने की लाचारी आ गयी है तो उसे भी खरीद लेंगे और उस कलौंस के अपनी कलौंस बना लेंगे। पर बेबसी ऐसी हो कि कुछ सूझे नहीं, किसी भी कीमत पर दे देने की, यहाँ तक कि एक दृष्टिपात पर ही बिक जाने की बेबसी हो। बिकने का सौदा पूरा होने के पहले ही मन से बिककर तैयार हो जाय, ऐसी उन्मदान्धता हो, ऐसी बेखबरी हो, ऐसी बेसुध हो कि खरीदनेवाला आये तो बेचने की सुधि न रह जाय।

बेचनेवाला रहा ही नहीं, वह तो बेच-खरीद की लीला करते-करते खुद खरीददार हो गया है। ऐसी बेसुधी ही जीवन की सबसे बड़ी साध है, अपनी इच्छा से मृत्यु को रोक रखनेवाले भीष्म भी मृत्यु के क्षण एक ओर श्रीकृष्ण के धूलि-सने, अस्तव्यस्त, क्षुब्ध और रोषाकुल रूप का ध्यान करते हैं, पैताने सौम्य प्रसन्न मुद्रा में वे ही श्रीकृष्ण खड़े हैं, पर वह रूप मृत्यु की वेला में ध्यान में क्यों लाया जाय, ध्यान में वह रूप लाया जाय कि वे अकुला उठे हों मारने के लिए और ऐसे मरते हुए मेरी अकुलाहट अब शान्त हो गयी हो और अन्त में जब स्वयं अकुला उठे हों, प्रभु की अकुलाहट से तो अकुलाहट की उस चरम साधना का ध्यान करते हैं—

> "ललितगतिविलासवल्गुहासप्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।
> कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥"

प्रिय सामने हैं, उनके आगे उनके साथ ललित गति से नाचना, उनकी

और देख-देखकर सहज भाव से मुस्कराना, उन्हें प्रेम से निहारना, उनको जरा भी इधर-उधर मुड़ते देखकर रूठ जाना और फिर मान जाना, क्योंकि अभी फिर उन्होंने मनाने के लिए हाथ भी जोड़ लिये, जैसे-जैसे वे विहरें, वैसे-वैसे उनकी छाया बन कर विहरना, होश खो देना कि कोई और सत्ता है, कोई देश है, कोई काल है, बस वे हैं और अलग-अलग 'मैं' बनी हम हैं, ऐसी उन्मदान्धता में ही पूरा तादात्म्य संभव है। ज्ञान, प्रकाश, अच्छाई तो हर एक दे सकता है और बड़े सच्चे भाव से दे सकता है, पर अपना मोह, अपना अन्धकार और अपनी भीतर की बुराई अपने प्रिय को देने का साहस नहीं होता, प्रिय से भी कुछ चीजों का दुराव रह ही जाता है। कितनी भी इच्छा क्यों न हो कि प्रिय मेरे हृदय में छिपे रहें पर यह मन से नहीं जाता कि मेरे कोने अँतरे में छिपे पुराने पाप की पूँजी कहीं न टटोलने लगें। पर अपने को बिल्कुल पराया मानकर और उनको अपना मानकर जब दिया जायगा तो फिर उससे दुराव नहीं रह पायगा, दुराव तो उससे होता है जिसके लिए एकदम अपनी होने का अभिमान हो, जिसके लिए परायी हैं उससे क्या छिपाना वह हमारा भीतर-बाहर सब देख सकता है; क्योंकि भीतर तो वही-वही है, बाहर कोई हो भी तो उसी के रंग में सराबोर होकर है। इसीलिए भागवत धर्म ने सबसे ऊँचा आसन इस मोहान्ध घोर तामस प्रेम के मार्ग से प्रभु की प्राप्ति को दिया है।

इसका भी चरम उत्कर्ष है—'राधा भेलि मधाई' वाला भाव। अनुखन माधव-माधव रटते-रटते राधा माधव हो गयी और माधव के रूप में अपने को स्थापित करते ही बेचैनी कम होने के बजाय और बढ़ गयी, बेचैनी राधा के लिए, जो अब वह नहीं रही और फिर माधव बनी राधा राधा बनकर माधव को सान्त्वना का सन्देश भेजती है, सन्देश पहुँचा नहीं कि विह्वल होकर पुन. माधव बन जाती है और एक ही विजड़ित चित्त के दो पाट चिर जाते हैं: एक राधा दूसरा माधव, दोनों ओर आग पकड़ चुकी है, बीच में प्राण एक कीड़े की तरह फँसा हुआ अकुला रहा है, वही प्राण तो इस विजड़ित काष्ठीभूत द्विभक्त चित्त का संयोजक है, नगण्य चाहे कितना हो, पर वह दोनों पाटों की जलन का साक्षी है, चित्त बेखबर है, प्राण जाग रहा है—

"दुहुँ दिसि दारु दहन जइसे, दगधइ आकुल कीट परान ॥"

आज की दुरन्त मानवीय द्विभक्तता की स्थिति में बस आग की कमी है और अकुला उठनेवाले 'कीट परान' की कमी है, नहीं तो उस बेकली के लिए जैसी तैयारी आज है, वैसी कभी नहीं थी।

मनुष्य के हाथ ने जिसे छुआ, वह सोना हो गया, मनुष्य का हाथ पारस पत्थर है न ? पर अपने स्पन्दन, अपने स्नेह, अपनी ममता, अपनी वेदना, अपनी हुलास को भी छूकर उसने सोना बना दिया, एकदम ठोस। हाथ से छूते ही जीती जागती लडकी सोना हो गयी, हाथ में लगा जैसे बिजली की करेंट मार गयी हो। अब हाथ उठने से डरता है। अपनी छुवन से सिरजाये मुनहले वैभव के बीच मनुष्य एकाएक काठ हो गया है, उसका लोभ उसे खाने दौड़ रहा है और उसे बचानेवाला कोई प्राण नजर नहीं आता। इसी डर मे कही भीतर से प्राण छटपटा उठेगा और कही बाहर का भय भीतर देनेवाले और लेनेवाले के बीच एक भूमिका की अदली बदली की जरूरत महसूस करायेगा। बाहर कोई लेनेवाला नहीं रहेगा तो भीतर का लेनेवाला अकुला कर देने वाले की भूमिका ले लेगा और गुहार लगायेगा कि ओ लेनेवाले मन, लो कितना लोगे, लो मेरा लो, मेरा अभिमान, मेरा कर्तृत्व, मेरा भोक्तृत्व लो, इनकी गाँठें एक-एक के ऊपर दूसरी पटी हुई हैं। ले जाओ, मेरा गोदाम खाली करो और जब कोई मन उस भूमिका मे उतरने को तैयार नहीं होगा और जल्दी-जल्दी मे आगेवाला पर्दा डालने की उपहसनीय स्थिति आ जायेगी, तभी नाटक का सूत्रधार आयेगा। माधव माधव रटते रहो, माधव होना, राधा के शरीर से माधव होना कठिन साधना है। राधा सुख दे दे, सरबस दे दे, पर अपना राधात्व, अपना दुरन्त अकेलापन, अपना चिरन्तन विरह कैसे दे वही तो मूलधन है, उसी के कारण राधा का अस्तित्व है। पर राधात्व देने की भी एक बेचैनी की जबर्दस्त बहिया आती है, अपने सँजोये निपट अकेलेपन को उसमे विसर्जित करके माधव की धारा बनने का भी क्षण आता है। वह क्षण चाहे ज्यादा देर तक न ठहर पाये पर वह क्षण आते ही विरह की साधना दुःखी होने के कारण तीव्रतर भूमिका में पहुँच जाती है, ऐसी भूमिका जो अब तक सुनने में न आयी हो, देखने में न आयी हो, उस "श्रुति भिर्विमृग्याम्" भूमिका की कामना ही भागवत धर्म की चरम कामना है।

श्रीकृष्ण का जन्म भाद्रपद् की कृष्णपक्ष की अष्टमी को होता है, समस्त जगत् का अन्धकार पीकर आधी रात में कृष्णचन्द्र का उदय होता है और राधा का जन्म भाद्रपद् की शुक्लपक्ष की अष्टमी को होता है, अपनी समस्त उज्ज्वलता, अपनी पूरी प्रभा श्यामल रंग मे घोल देने के लिए।

राधा माधव के केलिनिकुंज के अन्धकार में घटित होकर उतनी सार्थक नही जितनी राधा के मनोमन्दिर मे एक राधाचित्त के दो राधा-माधव भावों की एक-दूसरे को पाने की उत्कट विह्वलता मे घटित होकर सार्थक है। भागवत धर्म की चरम सार्थकता परपीड़ा की ज्वाला के वरण से शुरू करके

अपनी पीड़ा की ज्वाला को प्रिय की ओर मोड़ने के बजाय पुनः अपनी ओर मोड़ देने मे है। यही उसका आज के पर्याकुल सन्दर्भ मे सबसे बड़ा अवदान हो सकता है, बशर्ते कि इस पराभूमिका को ग्रहण करनेवाले हम जो सोठियाये बुद्धिवादी अधूरे और अश्लील संस्कारों के शिकार हो गये हैं पहले अपने को इस खोखली शिक्षा द्वारा नैतिकता के नाम पर फैलाये गये विषाक्त अनैतिकता के नागपाश से मुक्त कर सकें।

बालू के ढूह

बरसों पहले एक जापानी फिल्म देखी थी, 'बालू के ढूहों वाली' बाद में वह उपन्यास भी पढ़ने को मिला, जिस पर यह फिल्म आधारित है। उस फिल्म का कथानक तो मर्मस्पर्शी था ही, उसका प्रस्तुतीकरण भी इतना गहरा प्रभाव छोड़ने वाला था कि आज भी उस फिल्म की करुणान्त नियति मन पर छायी हुई है। मुझे अभी हाल ही मे एक औद्योगिक उपनगर से निमन्त्रण मिला और अपने रोजमर्रा की जिन्दगी से दो-तीन दिनो की मुहलत लेकर वहाँ गया, लगभग तीन दिन या ठीक-ठीक कहूँ तीन रात रहा। ज्यादा तो घूमने-घामने के लिए गया नही था, पर वहाँ घुमानेवाले स्नेहियों के उत्साह का मान रखने के लिए कुछ न कुछ तो चक्कर लगाना ही पड़ा, ऊँची पहाडी पर भुवनेश्वर, खजुराहो, वेलूर, महाबलीपुरम् इन सब स्थानो के स्थापत्य को गड्डमगड्ड करके पत्थरों से तराशे मन्दिर से लेकर रोज एक-एक इंच नीचे धँसते मानव-निर्मित रेणु-सागर तक की परिक्रमा हुई, अलमूनियम के धातु पाषाणों के धातु सिल्लियों मे रूपान्तर की प्रक्रिया भी सरसरी तौर पर देखने-समझने को मिली और निचले स्तर की झोपड़ी में रहनेवाले मजदूर से लेकर ऊपर के ऊँचे बंगले में रहनेवाले प्रबन्धक अधिकारियों के सत्कार का भी सुयोग मिला और तीन पारियो में (शिफ्टो मे) बँटी हुई जिन्दगी के हफ्ते-हफ्ते चक्कर काटते तीन प्रकार के खटने-सोने और जीने के क्रम भी पास से अध्ययन करने को मिले। और तब लगा कि इस जगह को जिन लोगो ने 'रेणुकूट' नाम अपना सांस्कृतिक आभिजात्य प्रमाणित करने के लिए दिया, उन लोगो ने इस नाम की विडम्बना अनजाने ही घोषित कर दी। रेणुकूट याने बालू के पर्वत। और तभी वह 'बालू के ढूहों वाली' फिल्म एक नयी चुभन के साथ याद आ गयी।

एक वैज्ञानिक है, कीडो में उसकी बड़ी गहरी रुचि है, उसे एक सुनहरे गुबरैले की खोज है और एक झोला लेकर वह निकल पड़ता है बलुहे तटों की ओर, क्योंकि इसी परिवेश मे यह सुनहरा गुबरैला पलता है। वह वैज्ञानिक एक ऐसी वीरान जगह में पहुँच जाता है, जहाँ ऊपर एक गाँव है, उसके पास ही एक ऊँचा कगार है और नीचे बालू के ढूह हैं, वहाँ रेत ही रेत है, उसमे कुछ चीजें ऐसी मिलती हैं जिनका उपयोग ऊपर के गाँववाले करते हैं, वहीं इस प्रकार के कीड़े हैं, इस आश्वासन से उत्साहित होकर रस्सी के सहारे

वैज्ञानिक नीचे लटका कर छोड़ दिया जाता है। नीचे एक छोटा-सा काठ का घर है, उसमें एक उदास-सी थकी हारी युवती है, पति नहीं रहा, ऐसे अकेलेपन का बानक मुँह पर डाले हुए। वैज्ञानिक उस युवती से बिदकता है, रिस-रिस कर छा जाने वाली रेत से जूझता है, युवती के आतिथ्य को पहले बेमन से फिर लाचारी से मानवीय ममता से स्वीकार करता है, उसके अकेलेपन से खिंचकर उससे जुड़ता है और जब उसे इस यथार्थ का बोध हो जाता है कि वह एक शिकार के तौर पर फँसाया गया है, युवती के लिए इसी प्रकार किसी बलिष्ठ सहायक को फाँसकर गाँववाले लाते हैं, वह युवती एक चारा है, असल में उस रेत से जूझने के लिए खटनेवाला कोई बलिष्ठ पुरुष बराबर मिलता रहे, इसीलिए एक ऐसी युवती वहाँ रखी गयी है, तब वह भाग जाने के लिए छटपटाने लगता है। एक बार भागता है, पर पकड़ लिया जाता है। दूसरी बार फिर मौका मिलता है, तब तक वह अपनी प्रयोगशाला को भूल चुका है, अपनी माँ को भूल चुका है और रेत और रेतीले प्रेम के भोग का वरण कर चुका है, राहें खुल जाती हैं और उसकी गति ठहर जाती है उसकी गति छिन-छिन सुर-सुर सरकती बालू की गति मे विलीन हो जाती है।

आधुनिक यान्त्रिकता की करुण नियति को प्रतिबिम्बित करनेवाली वह फिल्म तीन ही रातो मे कई रीलो मे नये आयाम ग्रहण करके मन मे नाच गयी। बाक्साइट चट्टान छँट रही है, छँटकर पिस रही है, उसके चूरो को और बारीक बनाकर घोलायित किया जा रहा है, घोलो मे दूसरे घोल मिल रहे हैं और सिल्लियाँ ढल रही हैं, वैगनो मे लदकर दूसरी फैक्टरियो मे भेजी जा रही हैं। अलग-अलग सयन्त्र हैं, अलग-अलग विभाग हैं। बारीक चूरो की धूलि कपड़ो मे, रोम-रोम मे, मन मे भरती चली जा रही है। यह धूलि हवा मे बसती चली जा रही है। यह धूलि निर्मल रेणुसागर को पंक बनाती चली जा रही है। इस धूलि मे बस हजार-हजार सुनहरे गुबरैले दमक रहे हैं, बोनस की माँग का आकार ग्रहण करके या कुल तीन मन्दिरो मे हजार-हजार मनौतियो का आकार ग्रहण करके या बड़े साहब, मझले साहब, छोटे साहब, चीफ, मेट, वर्कर की घरवालियो की बहुत छोटी-छोटी बातो मे प्रतिस्पर्द्धा की होड़ की शक्ल धारण करके या छोटे-छोटे घरौंदो मे ऊब से उबरने के लिए बेमतलब तनाव का रूप धारण करके इन ढूहो के नीचे से निकल-निकलकर रेत की उजास मे दिप जाते हैं, पर इन सबको आप्लावित करती हुई रेत की अनटूटती धार उमड़ती रहती है, नयी-नयी रेत की धार बनती रहती है और रेत निरन्तर भीतर और भीतर पैठती जाती है, कभी जाने, कभी अनजाने। यह रेत है, यान्त्रिक परिस्थितियो की दुर्निवार विरसता। फैक्टरी में पत्थर के टुकड़े रेत बनते हैं, आदमी का चट्टान-जैसा साहस रेत बनता है, मानवीय सवेदना की धारा रेत बनती

है, फैक्टरी से घर आते ही लोन-तेल-लकड़ी की बिना आग जलानेवाली चिन्तायें आत्मीयता की स्निग्ध मिट्टी को सुखाकर रेत बना देती हैं, घर में रेत की अदृश्य दीवार खड़ी हो जाती है। इस दीवार को तोड़ने के लिए जब कुछ बड़े शब्दों के हथौड़े चलते हैं तो वे शब्द टूट-टूटकर रेत बन जाते हैं, धीरे-धीरे एक रेतीला मौन बस मुखर रह जाता है। ऐसा मौन जो शब्द से अधिक चुभता रहता है, शब्द से अधिक किसकता रहता है।

बात शुरू भी होती है तो बोनस, बढ़ोत्तरी, बॉमों की बदनीयती-नेकनीमती से होते हुए बिड़ला पर टूट जाती है। बिड़ला या कोई ऐसा बड़ा नाम जो इस प्रकार के यान्त्रिक उद्योगीकरण का प्रतीक बन गया हो। बिड़ला की चाकरी फिल्मवाली युवती की तरह बालू की सारी किसकन को पोंछती हुई अपने मोहपाश में बाँधकर अपने उत्तप्त चुम्बनों की हर बात के मुँह पर मुहर दाग देती है। उस पाश से छूटते ही बालू किसकने लगती है, बात बढ़ने लगती है, पर उस चाकरी को पहले आलम्बन की दरकार थी, अब आलम्बन को चाकरी की ऐसी दरकार है कि बिजली की आपूर्ति कम होते ही जब काम के घंटे कम होते हैं, जब महीनों बैठकी का निठाला आता है तो इस चाकरी का मोह और प्रबल हो जाता है। इससे भागने की कल्पना भर सुहावनी लगती है, इससे निकलने का यथार्थ बड़ा डरावना होता है। और सारा आक्रोश, सारा पौरुष, सारा स्वाभिमान इस पाश में कसे जाने पर चूर-चूर हो जाता है, ऐसी काली नागिन का पाश है, जो डँसकर उलटी हो गयी है।

मैं ऐसी ही डँसकर उलटी हुई जुन्हैया में रेणुकूट पहुँचा था। शाम को बादल घिरे उमड़े-घुमड़े, अनबरसे बिखर गये। चाँद बादलों की ओट से शान से निकल आया। जिस मकान में ठहरा था, उसकी बगलवाली छोटी-सी छत पर बैठकर कभी दूर पहाड़ियों के सँवराये वितान पर, कभी बिलकुल अपने नीचे बेतरतीब झुग्गियों के धुँईले फैलाव पर दृष्टि जाती। बीच-बीच में चाँदनी झाँक जाती और इतने में लुप से चाँद छिप जाता, अँधेरा और दूना हो आता, बाहर और भीतर एक-सा। भीतर इसलिए कि मैं जिस चरखे से जान छुड़ाकर आया हूँ, उसकी ऊब तो इस आसपास की जिन्दगी के आगे कुछ है ही नहीं, वह तो इस जिन्दगी के सामने एक अच्छी खासी मन बहलानेवाली मान-लीला लगती है। मैं जाने कितने गाँवों, कस्बों, शहरों, महानगरों का धुआँ, गर्द-गुबार, घुटन-भरा धुहाँसा (पेट्रोल की गन्ध मिला कुहासा) और झुकमुक रोशनी, टहकती चाँदनी, घुप अँधेरा, टिमटिमाहट, झिलमिली, चकमकाती रोशनी, अन्तर्गर्भ नीली प्रसृत विद्युज्ज्योति सभी झेल चुका हूँ, पी चुका हूँ, पर औद्योगीकरण की नंगी रोशनी में आदमियत की अँधेरी रात की उघरी हुई जाँघ पहली बार देख रहा हूँ। लोगों ने दृष्टि मोड़नी चाही, ऊपर देखिए ऊँचे बिड़ला मन्दिर

की सीढ़ियों पर दोनों ओर लगी रोशनी की कतार कैसी सुहावनी लगती है, पर उस कतार में मुझे एक कराल अन्धकार के उघड़े हुए दाँत ही नजर आये और भीतर की घबराहट और बढ़ गयी। नास्तिक न होते हुए भी उस रोशनी की कतार मे मैं अन्धकार से उबरने का कोई सहारा पाने की कल्पना नही कर पाया। मुझे तो भीतर से यही लगा कि अँधेरे का यह एक नया क्रूरतर व्यंग है कि मैं रोशनी की कतार बिछाकर भी अपने को ही प्रमाणित कर रहा हूँ, सूर्य के उपासकों, प्रकाश के पुजारियों, तुम्हें पूजा भी करने को मिलेगी तो मेरी ही पूजा करने को मिलेगी, सूरज डूब गया है, प्रकाश रास्ता खो चुका है। गांवो मे पट्टीदारी के झगड़े देखे हैं, एक-दूसरे की चुगली में लोगो को पैशाचिक उल्लास अनुभव करते पाया है, कस्बो मे छोटे-छोटे डाहों के बड़े अपरूप बनते देखे हैं और शहरीपन के लोभ में भोंड़ेपन के अजीबोगरीब साज-बाज देखे हैं, जिनको देखकर हँसना नही होता, शहर मे रहने के कारण रोना आता है; छोटे शहरो मे थोडे-से अफसरो और सफेदपोश मझले कद के लोगो के इर्द-गिर्द मँडरानेवाली छुटपन की हीनता और अकारण दीनता की भीड देखी है, साल मे एकाध बार बाहर के किसी भी भव्य मूर्ति के आगमन के समय उत्सव का एक लम्बा और बेहद उबाऊ खिंचाव देखा है, जिसमें अतिथि की उतावली भरी दयनीय मुद्रा और आतिथेय का दयनीय मुद्रा वाला उछाह दोनो के ही अजीब से करुण संयोग मे जुड़ने से पूरे उत्सव का रंग उजाड़ होते देखा है, बड़े शहरों मे लोगो की बड़ी से बडी मानवीय संकट स्थिति के प्रति घोर अनासक्ति देखी है और औपचारिकता के नाटक मे लोगो के चेहरो पर भयावह तनाव देखा है, और भी बड़े शहरो के धुँहासे की चीकट गन्ध मे डूबे हुए जादू से चलाये गये पादपों की लयबद्ध पंक्ति के रूप मे प्रतीत होते स्याह सुरमई लबादे से लिपटे हुए तनो को लाल-हरी रोशनी के संकेतों पर रुकते और तेजी से निशब्द बढते देखा है, आदमी की भाषा को उपचार की अर्थहीनता मे घिस-घिसकर सपाट और निर्जीव होते देखा है; परन्तु पहली बार मैंने विमानवीकरण का ऐसा सम्पुंजित अन्धकार देखा। मुझे बराबर लगता था कि आदमी के पास अपने कौशल से नये जगत् के निर्माण का जादू है, उसके हाथो मे, उसके दिमाग मे अनन्त ब्रह्माण्ड कन्दुक की तरह उछाला जा सकेगा। वह नया विधाता है। तकनीकीकरण या अभियन्त्रीकरण की मयपुरी का वह राजा है, जैसे चाहेगा वह अपनी सुख-सुविधा के अनुसार इस मयपुरी का रूपान्तर कर लेगा। पर उजाले पक्ष की उस अँधेरी रात मे उस रेणुकूट नामक मयपुरी की गोद मे बैठा हुआ मैं आदमी के विधाता रूप से ऐसा आतंक्ति हुआ, जैसा कभी हुआ न था।

पहली बार लगा आदमी आदमी से जब तक लड़ता-झगड़ता है, रूठता-

पनता है, यहाँ तक कि आदमी आदमी को जब तक मारता-काटता है, तब तक भी उसके भीतर का आदमी चाहे छोटे से काँच के टुकड़े के रूप में ही क्यों न बच रहा हो पर वह उसके भीतर-बाहर चमकता और करकता रहता है, पर जब आदमी आदमी से तटस्थ हो जाता है, जब उसके मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती या होती भी है तो प्रतिक्रिया भी ऐसी पूर्वनियंत्रित होती है कि प्रतिक्रिया जैसी लगती ही नहीं। तब लगता है आदमियत की लाश ढोयी जा रही है, जो भी समारोहों का गाजन-बाजन सुनायी पड़ता है वह उस महायात्रा के जुलूस का ही एक अंग बन गया है, घड़ी-घंट के बिना महायात्रा कैसी? जो भी कन्धा दुखने का बोध दिखायी पड़ता है वह लाश ढोने का अभ्यास कुछ कम होने के कारण; अन्यथा ऐसा अभेद्य मौन जब अन्धकार के रूप में घिर आये तब मानना चाहिए विमानवीकरण अपनी चरण परिणति को पहुँच रहा है और तब कैसा दुःख, कैसा दर्द? उस दिन मुझे कुछ वैसा ही लगा।

जिस दिन आने को था, उसकी पिछली रात, रात गहराने पर यकायक तेज-सी बौछार आयी, चारपाई अन्दर की और यकायक भयंकर शूल उभरा, ऐसा शूल कि दाँतों के भीतर कराह दबायी न जा सके। उस शूल के उभरने से मेरे मेजबान की पत्नी को घबराहट हुई, पर वहाँ डॉक्टर किसी के घर नहीं जाता। अस्पताल एक है, वहीं मरीज को जाना पड़ता है, पर मरीज अस्पताल में पहुँच जाय, यह एक मानसिक आश्वासन भी है, टालू किस्म का कोई तात्कालिक उपचार हो जायेगा, वह भी तब जब मरीज की कोई हैसियत हो, अफसरी हैसियत हो या लीडरी हैसियत हो, या शुद्ध उपद्रवी हैसियत हो, बीच का आदमी बिना हैसियत का आदमी तो शायद पहुँच भी नहीं पायेगा। जिस दवा के लिए आदमी गया, वह दवा भंडार में नहीं थी। खैर, दर्द ने मेरे पास जो दवा थी उसी से सब्र किया, कुछ देर बाद सह्य हो गया। पर जितने क्षण तक वह शूल तीव्र रहा, उतने क्षण शूल से भी अधिक इसका दर्द चुभता रहा कि मैं एक ऐसी सपाट शून्यता में अनचाहे अपने शूल की एक व्यर्थ प्रतिक्रिया—एक अर्थहीन हलचल—पैदा कर रहा हूँ, यह कैसी दुरन्त नियति है। मेरे मेजबान इंजीनियर रात की शिफ्ट में थे, बिचारे आये ऐम्बुलेंस लेकर, पर दर्द तब तक थमने लगा था और फिर वे लौट गये। नीबू की चाय के साथ अपने थमते दर्द को पीकर पड़ रहा। और दर्द अब चुभन न रहकर बालू की किसकन बन गया, क्योंकि हर बेमानी दर्द जो आदमी को तमाशा और आसपास के लोगों को तमाशाई बना देता है वह बालू की किसकन ही तो बनता है। व्यक्ति का ही नहीं, समाज का भी दर्द जब केवल छूँछे आकाश की छूँछी लहर मात्र बनकर रह जाता है तो वह किसी को भी चुभता नहीं, 'बालू के ढूहों वाली' फिल्म की रेतीली धार की तरह बस बहता

रहा है, कुछ दिनों तक तो किसकता है, बाद में किसकना भी समूह-आदमी की अपनी एक अनिवार्य प्यास बन जाता है। बालू से तब तालू सूखता नहीं, तालू ही ऐसा बलुहा हो जाता है कि केवल बालू नित नया न मिले तभी वह सूखने लगता है। ठंडी आलमारी, पानी गरमाने वाली बिजली-छड़ी, बिजली का चूल्हा, बिजली की चक्की, बिजली की निचोड़नी, बिजली की सिल, बिजली की इस्त्री, बिजली की बर्तन धोवनी, बिजली की केशसुखावनी, बिजली की छिड़कनी, बिजली की बुहारनी, बिजली की देहमीसनी, बिजली की सुखोत्तेजिनी—एक के बाद एक बलुहे प्यास को और बढ़ाती जाती हैं और बिजली कटते ही जिन्दगी कटे रूख की तरह भहरा पड़ती है, क्योंकि आँख, कान, नाक, जीभ, रोम सभी विद्युद्यन्त्र भावित हैं, सभी अपना स्वयं चालन भाव खोकर विद्युच्चालित हो गये हैं, मानव हृदय तक विद्युच्चालित होने लगा है। ऐसी बिजली की बढ़िया में गीली रेत बराबर न छूती रहे तो जीवन की सारी उत्तेजना मर जाय, जीवन की आकांक्षा चुक जाय और अर्थहीनता का प्रतिष्ठादर्पण धुँधरा जाय। उस समय पानीदार आत्मीयता की लहर ही आने पर खतरे की घंटी बजने लगती है। आदमी यन्त्रचालित अवस्था की जब परमहंस भूमिका में पहुँच जाता है और जब वह अपने से, अपनेपन से एकदम जुदा हो जाता है, तब परायेपन का आचरण हाथ से छूटते ही वह सहमने लगता है, और अपनापन का इशारा भी अनचीन्हे भय की सिहरन पैदा करने लगता है।

लेटते-लेटते यही सब सोचता रहा और एक झपकी आ गयी, सवेरे जाने की तैयारी थी, झपकी भी उचट गयी और देखा सुबह की रोशनी हाथ पसारने लगी है, इस रोशनी को क्या दूँ ? अपना बुझा हुआ दर्द दूँ या दर्द के एहसास के मरने का बेदर्द मातम दूँ या अपनेपन की किरन की अनी की अचानक चुभन का आलोकमान आतंक बोध दूँ या कुछ न दूँ, सब लेकर उस पसरे हाथ पर अपनी इस अन्तराल-आरामवेला की पूर्णाहुति के रूप में अपनी यह सान्त्वना दूँ कि कहीं भीतर कुछ बचा है जहाँ तक रेत रिसकर पहुँच नहीं पायी है, वह पानी न हो, अनसुलगी आग ही क्यों न हो, रेत उसके घेरे को छूते ही दूर छिटक जाती है, कहीं एक रुकावट है जो तमाम टूटनों, उबासियों और अकेलेपनों के आक्रमण ओढ़े हुए है, भीतर अभी भी कुछ ऐसा लगता है नौका धँसी नहीं है, उसकी माँग अभी भी रेत के ऊपर खड़ी है। मैं तो सुनहरे गुबरैलों का अन्वेषी वैज्ञानिक भी नहीं, मैं साधारण आदमी, आदमी के हर रूप से जान-पहचान करनेवाला गँवार आदमी, आदमियत की हर रंगत को बड़ी हसरत की निगाह से देखनेवाला आदमी, इन ढूहों में आया तो स्रोतस्विनी की तलाश में आया। वह स्रोतस्विनी खो गयी है, तो कभी थी, तभी जो यह रेत बनी, बिना पानी की पिसाई के रेत भी कहीं बनती है, रेगिस्तान भी तो महासागर की छोड़न होते हैं, और

अगर थी तो कभी फिर बुलायी जा सकती है और आज नहीं तो कल चाकरी के पाश से आदमी छूटे न छूटे, चाकरी जरूर पाश के रूप में उपयोजित होने की विवशता के बन्धन से जरूर छूटेगी। एक दिन परायेपन का पाथेय जरूर चुकेगा और जिस दिन चुकेगा, उस दिन असली प्यास फिर जगेगी, वह बालू से नहीं बुझेगी, पानी नहीं मिलेगा, आदमी तड़पेगा और जलेगा, उसकी तड़पन और उसकी जलन में बालू के दूह चट्टान बन जायेंगे, चट्टानें रसधार बन जायेंगी। पर वह दिन दूसरी जगह शायद जल्दी आए, हिन्दुस्तान में और विकास-योजनाओं की ओस चाटनेवाले उसके हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में यह दिन आये, इसके पहले एक लम्बी बासी रात आयेगी, अभी तो महज शाम का रंगीन धुँधलका है, जिसमें ये दूह इतने रंगीन दिख रहे हैं, नीचे घिरते हुए अन्धकार के ऊपर ऐसी दमक दिखा रहे हैं कि कुछ पूछिए मत।

पर सुबह को यह सान्त्वना भी नहीं दे पाया, मन की मूठ नहीं खुली और सुबह ने अपने हाथ समेट लिए, सामने मेजबान के हाथों में सुर्ख गुलाबी चाय—नीबू से भावित होने के कारण और चटक गुलाबी चाय की—गिलास हाजिर हुई, उसके साथ एक करुण मुसकान पूछती हुई—अब दर्द कैसा है? कुतूहली मन बोल उठा, कैसा दर्द, जहाँ आदमियत का दर्द देकर बेआदमियत का ऐश खरीदा जा रहा है, वहाँ दर्द की बात क्या की जाए, चाय की तारीफ की, कष्ट के लिए धन्यवाद दिया और फिर सामान समेटने लगा। बस, शायद सात बजे खुल जाती है और जल्दी-जल्दी हड़बड़ी में यह भी सुधि नहीं रहती कि पीछे मुड़कर देखूँ गीली रेत में कोई पदछाप छोड़ पाया हूँ या नहीं। आगे जरूर हिंडालको की उजले रेत की तरह सुबह चकाचौंध मारती चिमनी आँखों में दमक उठी, जैसे वह तमककर पूछती हुई—अरे यायावर फिर इधर आओगे और मन ने सहमकर कहा—नहीं, शायद फिर आना नहीं होगा।

मेरे राम का मुकुट भीग रहा है

महीनों से मन बेहद-बेहद उदास है। उदासी की कोई खास वजह नहीं, कुछ तबीयत ढीली, कुछ आसपास के तनाव और कुछ उनसे टूटने का डर, खुले आकाश के नीचे भी खुलकर साँस लेने की जगह की कमी, जिस काम में लगकर मुक्ति पाना चाहता हूँ, उस काम में हजार बाधाएँ, कुल लेन-देकर उदासी के लिए इतनी बड़ी चीज नहीं बनती। फिर भी रात-रात नींद नहीं आती। दिन ऐसे बीतते हैं, जैसे भूतों के सपनों की एक रील पर दूसरी रील चढ़ा दी गयी हो और भूतों की आकृतियाँ और डरावनी हो गयी हों। इसलिए कभी-कभी तो बड़ी-से-बड़ी परेशानी करनेवाली बात हो जाती है और कुछ भी परेशानी नहीं होती, उलटे ऐसा लगता है, जो हुआ, एक सहज क्रम में हुआ; न होना ही कुछ अटपटा होता और कभी-कभी बहुत मामूली-सी बात भी भयंकर चिंता का कारण बन जाती है।

अभी दो-तीन रात पहले मेरे एक साथी संगीत का कार्यक्रम सुनने के लिए नौ बजे रात गये, साथ में जाने के लिए मेरे एक चिरंजीव ने और मेरी एक मेहमान, महानगरीय वातावरण में पली कन्या ने अनुमति माँगी। शहरों की, आजकल की असुरक्षित स्थिति का ध्यान करके इन दोनों को जाने तो नहीं देना चाहता था, पर लड़कों का मन भी तो रखना होता है, कह दिया, एक-डेढ़ घंटे सुनकर चले आना।

रात के बारह बजे। लोग नहीं लौटे। गृहिणी बहुत उद्विग्न हुईं, झल्लायीं; साथ में गये मित्र पर नाराज होने के लिए संकल्प बोलने लगीं। इतने में जोर की बारिश आ गयी। छत से बिस्तर समेटकर कमरे में आया। गृहिणी को समझाया, बारिश थमेगी, आ जायेंगे, संगीत में मन लग जाता है, तो उठने की तबीयत नहीं होती, तुम सोओ, ऐसे बच्चे नहीं हैं। पत्नी किसी तरह शांत होकर सो गयी, पर मैं अकुला उठा, बारिश निकल गयी, ये लोग नहीं आये। बरामदे में कुर्सी लगाकर राह जोहने लगा। दूर कोई भी आहट होती, तो उदग्र होकर फाटक की ओर देखने लगता। रह-रहकर बिजली चमक जाती थी और सड़क छिप जाती थी। पर सामने की सड़क पर कोई रिक्शा नहीं, कोई

चिरई का पूत नहीं। एकाएक कई दिनों से मन में उमड़ती-घुमड़ती पंक्तियाँ गूँज गयीं—

"मोरे राम के भीजे मुकुटवा,
लछिमन के पटुकवा
मोरी सीता के भीजे सेनुरवा
त राम घर लौटहि।"

[मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा, मेरे लखन का पटुका (दुपट्टा) भीग रहा होगा, मेरी सीता की माँग का सिंदूर भीग रहा होगा, मेरे राम घर लौट आते।]

बचपन में दादी-नानी जाँतें पर यह गीत गाती, मेरे घर से बाहर जाने पर विदेश में रहने पर वे यही गीत विह्वल होकर गाती और लौटने पर कहतीं—'मेरे लाल को कैसा वनवास मिला था'। जब मुझे दादी-नानी की इस आकुलता पर हँसी भी आती, गीत का स्वर बड़ा मीठा लगता। हाँ, तब उसका दर्द नहीं छूता। पर इस प्रतीक्षा में एकाएक उसका दर्द उस ढलती रात में उभर आया और सोचने लगा, आनेवाली पीढ़ी पिछली पीढ़ी की ममता की पीड़ा नहीं समझ पाती और पिछली पीढ़ी अपनी संतान के संभावित संकट की कल्पना मात्र से उद्विग्न हो जाती है। मन में यह प्रतीति ही नहीं होती कि अब संतान समर्थ है, बड़ा-से-बड़ा संकट झेल लेगी। बार-बार मन को समझाने की कोशिश करता, लड़की दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में पढ़ाती है, लड़का संकट-बोध की कविता लिखता है, पर लड़की का खयाल आते ही दुश्चिंता होती, गली में जाने कैसे तत्त्व रहते हैं! लौटते समय कहीं कुछ हो न गया हो और अपने भीतर अनायास अपराधी होने का भाव जाग जाता, मुझे रोकना चाहिए था या कोई व्यवस्था करनी चाहिए थी, परायी लड़की (और लड़की तो हर एक परायी होती है, धोबी की मुटरी की तरह घाट पर खुले आकाश में कितने दिन फहरायेगी, अंत में उसे गृहिणी बनने जाना ही है) घर आयी, कहीं कुछ हो न जाए!

••

मन फिर घूम गया कौसल्या की ओर, लाखों-करोड़ों कौसल्याओं की ओर, और लाखों-करोड़ों कौसल्याओं के द्वारा मुखरित एक अनाम-अरूप कौसल्या की ओर, इन सब के राम वन में निर्वासित हैं, पर क्या बात है कि मुकुट अभी भी उनके माथे पर बँधा है और उसी के भीगने की इतनी चिंता है? क्या बात है कि आज भी काशी की रामलीला आरम्भ होने के पूर्व एक

कि तुलसीदास ने 'कानन' को 'सत अवध समाना' कहा और चित्रकूट मे ही पहुँचने पर उन्हे 'कलि की कुटिल कुचाल' दीख पड़ी ? क्या बात है कि आज भी वनवासी धनुर्धर राम ही लोकमानस के राजा राम बने हुए हैं ? कहीं-न-कहीं इन सबके बीच एक संगति होनी चाहिए।

अभिषेक की बात चली, मन मे अभिषेक हो गया और मन मे राम के साथ राम का मुकुट प्रतिष्ठित हो गया। मन मे प्रतिष्ठित हुआ, इसलिए राम ने राजकीय वेश उतारा, राजकीय रथ से उतरे, राजकीय भोग का परिहार किया, पर मुकुट तो लोगों के मन में था, कौसल्या के मातृ-स्नेह में था, वह कैसे उतरता, वह मस्तक पर विराजमान रहा और राम भीगें तो भीगें, मुकुट न भीगने पाये, इसकी चिंता बनी रही। राजा राम के साथ उनके अंगरक्षक लक्ष्मण का कमर-बंद दुपट्टा भी (प्रहरी की जागरूकता का उपलक्षण) न भीगने पाये और अखंड सौभाग्यवती सीता की मांग का सिंदूर न भीगने पाये, सीता भले ही भीग जायें। राम तो वन से लौट आये, सीता को लक्ष्मण फिर निर्वासित कर आये, पर लोकमानस मे राम की वनयात्रा अभी नहीं रुकी। मुकुट, दुपट्टे और सिंदूर के भीगने की आशंका अभी भी साल रही है। कितनी अयोध्याएँ बसीं, उजड़ी, पर निर्वासित राम की असली राजधानी, जंगल का रास्ता अपने कांटो-कुशों, कंकड़ों-पत्थरो की वैसी ही ताजा चुभन लिए हुए बरकरार है, क्योंकि जिनका आसरा साधारण गँवार आदमी भी लगा सकता है, वे राम तो सदा निर्वासित ही रहेगे और उनके राजपाट को संभालनेवाले भरत अयोध्या के समीप रहते हुए भी उनसे भी अधिक निर्वासित रहेंगे, निर्वासित ही नहीं, बल्कि एक कालकोठरी मे बंद जिलावतनी की तरह दिन बितायेंगे।

••

सोचते-सोचते लगा कि इस देश की ही नही, पूरे विश्व की एक कौसल्या है; जो हर बारिश मे बिसूर रही है—'मोरे राम के भीजै मुकुटवा' (मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा)। मेरी संतान, ऐश्वर्य की अधिकारिणी संतान वन मे घूम रही है, उसका मुकुट, उसका ऐश्वर्य भीग रहा है, मेरे राम कब घर लौटेंगे; मेरे राम के सेवक का दुपट्टा भीग रहा है, पहरुए का कमरबंद भीग रहा है, उसका जागरण भीग रहा है, मेरे राम की सहचारिणी सीता का सिंदूर भीग रहा है, उसका अखंड सौभाग्य भीग रहा है, मैं कैसे धीरज धरूँ ? मनुष्य की इस सनातन नियति से एकदम आतंकित हो उठा, ऐश्वर्य और निर्वासन दोनों साथ-साथ चलते हैं। जिसे ऐश्वर्य सौंपा जाने को है। उसको निर्वासन पहले से

बदा है। जिन लोगों के बीच रहता हूँ, वे सभी मंगल नाना के नाती हैं, वे 'मुद मंगल' में ही रहना चाहते हैं, मेरे जैसे आदमी को वे निराशावादी समझकर बिरादरी से बाहर ही रखते हैं, डर लगता रहता है कि कहीं उड़कर उन्हें भी दुख न लग जाए, पर मैं अशेष मंगलाकांक्षाओं के पीछे से झांकती हुई दुर्निवार शंकाकुल आँखों में झांकता हूँ, तो मंगल का सारा उत्साह फीका पड़ जाता है और बंदनवार, बंदनवार न दिखकर बटोरी हुई रस्सी की शक्ल में कुंडली मारे नागिन दिखती है, मंगल घट औंधाई हुई अधफूटी गगरी दिखता है, उत्सव की रोशनी का तामझाम धुओं की गाँठो का अंबार दिखता है और मंगल-वाद्य डेरा उखाड़नेवाले अंतिम कारबरदार की उसांस में बजकर एक--बारगी बंद हो जाता है।

लागति अवध भयावह भारी,
मानहुँ कालराति अँधियारी।
घोर जंतु सम पुर नरनारी,
डरपहिं एक हि एक निहारी।
घर मसान परिजन जनु भूता,
सुत हित मीत मनहुं जमदूता।
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं,
सरित सरोवर देखि न जाहीं।

कैसे मंगलमय प्रभात की कल्पना थी और कैसी अँधेरी कालरात्रि आ गयी है? एक-दूसरे को देखने से डर लगता है। घर मसान हो गया है, अपने ही लोग भूत-प्रेत बन गये हैं, पेड़ सूख गए हैं, लताएँ कुम्हला गयी हैं। नदियों और सरोवरों को देखना भी दुस्सह हो गया है। केवल इसलिए कि जिसका ऐश्वर्य से अभिषेक हो रहा था, वह निर्वासित हो गया। उत्कर्ष की ओर उन्मुख समष्टि का चैतन्य अपने ही घर से बाहर कर दिया गया, उत्कर्ष की मनुष्य की ऊर्ध्वोन्मुख चेतना की यही कीमत सनातन काल से अदा की जाती रही है। इसीलिए जब कीमत अदा कर ही दी गयी, तो उत्कर्ष कम-से-कम सुरक्षित रहे, यह चिंता स्वाभाविक हो जाती है। राम भीगें तो भीगें, राम के उत्कर्ष की कल्पना न भीगे, वह हर बारिश में हर दुर्दिन में सुरक्षित रहे। नर के रूप में लीला करनेवाले नारायण निर्वासन की व्यवस्था झेलें, पर नर रूप में उनकी ईश्वरता का बोध दमकता रहे, *पानी की बूंदों की झालर में उसकी दीप्ति छिपने न पाये।* उस नारायण की सुख-सेज बने अनंत के अवतार लक्ष्मण भले ही भीगते रहें, उनका दुपट्टा, उनका अहर्निश जागर न भीजे, शेषी नारायण के ऐश्वर्य का गौरव अनंत शेष के जागर-संकल्प से ही सुरक्षित हो सकेगा और इन दोनों का गौरव

जगज्जननी आद्याशक्ति के अखण्ड सौभाग्य, सीमंत सिंदूर से रक्षित हो सकेगा, उस शक्ति का एकनिष्ठ प्रेम पाकर राम का मुकुट है, क्योंकि राम का निर्वासन वस्तुतः सीता का दुहरा निर्वासन है। राम तो लौटकर राजा होते हैं, पर रानी होते ही सीता राजा राम द्वारा वन में निर्वासित कर दी जाती हैं। राम के साथ लक्ष्मण हैं, सीता हैं, सीता वन्य पशुओं से घिरी हुई विजन में सोचती हैं— प्रसव की पीड़ा हो रही है, कौन इस वेला में सहारा देगा, कौन प्रसव के समय प्रकाश दिखलायेगा, कौन मुझे सभालेगा, कौन जन्म के गीत गायेगा ?

कोई गीत नहीं गाता। सीता जंगल की सूखी लकड़ी बीनती हैं, जलाकर अँजोर करती हैं और जुड़वाँ बच्चों का मुँह निहारती हैं। दूध की तरह अपमान की ज्वाला में चित्त कूद पड़ने के लिए उफनता है और बच्चों की प्यारी और मासूम सूरत देखते ही उस पर पानी के छींटे पड़ जाते हैं, उफान दब जाता है। पर इस निर्वासन में भी सीता का सौभाग्य अखण्डित है, वह राम के मुकुट को तब भी प्रमाणित करता है, मुकुटधारी राम को निर्वासन से भी बड़ी व्यथा देता है और एक बार और अयोध्या जंगल बन जाती है, स्नेह की रसधार रेत बन जाती है, सब कुछ उलट-पुलट जाता है, भवभूति के शब्दों में पहचान की बस एक निशानी बच रहती है, दूर ऊँचे खड़े तटस्थ पहाड़, राजमुकुट में जड़े हीरों की चमक के सैकड़ों शिखर, एकदम कठोर, तीखे और निर्मम—

> पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
> विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
> बहोः कालाद् दृष्टं ह्यपरमिव मन्ये वनमिदं
> निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति।

राम का मुकुट इतना भारी हो उठता है कि राम उस बोझ से कराह उठते हैं और इस वेदना के चीत्कार में सीता के माथे का सिंदूर और दमक उठता है, सीता का वर्चस्व और प्रखर हो उठता है।

••

कुर्सी पर पड़े-पड़े यह सब सोचते-सोचते चार बजने को आये, इतने में दरवाजे पर हल्की-सी दस्तक पड़ी, चिरंजीव निचली मंजिल से ऊपर नहीं चढ़े, सहमी हुई कृष्णा (मेरी मेहमान लड़की) बोली—दरवाजा खोलिए। आँखों में इतनी कातरता कि कुछ कहते नहीं बना, सिर्फ इतना कहा कि तुम लोगों को इसका क्या अंदाज होगा कि हम कितने परेशान रहे हैं। भोजन-दूध धरा रह गया, किसी ने भी छुआ नहीं, मुँह ढाँपकर सोने का बहाना शुरू हुआ, मैं भी स्वस्ति की साँस लेकर बिस्तर पर पड़ा, पर अर्धचेतन अवस्था में फिर जहाँ

खोया हुआ था, वही लौट गया। अपने लड़के घर लौट आये, बारिश से नहीं, संगीत से भीग कर, मेरी दादी-नानी के गीतों के राम, लखन और सीता अभी भी वन-वन भीग रहे हैं। तेज बारिश में पेड़ की छाया और दुखद हो जाती है, पेड़ की हर पत्ती से टप्-टप् बूँदें पड़ने लगती हैं, तने पर टिकें, तो उसकी हर नस-नस से आप्लावित होकर पीठ गलाने लगती है। जाने कब से मेरे राम भीग रहे हैं और बादल हैं कि मूसलाधार ढरकाये चले जा रहे हैं, इतने में मन में एक चोर धीरे-से फुसफुसाता है, राम तुम्हारे कब से हुए, तुम, जिसकी बुनाहट पहचान में नहीं आती, जिसके व्यक्तित्व के ताने-बाने तार-तार होकर अलग हो गये हैं, तुम्हारे कहे जानेवाले कोई हो भी सकते हैं कि वह तुम कह रहे हो, मेरे राम! और चोर की बात सच लगती है, मन कितना बटा हुआ है, मनचाही और अनचाही दोनों तरह की हजार चीजों में। दूसरे कुछ पतियायें भी, पर अपने ही भीतर परतीति नहीं होती कि मैं किसी का हूँ या कोई मेरा है। पर दूसरी ओर यह भी सोचता हूँ कि क्या बार-बार विचित्र-से अनमनेपन में अकारण चिंता किसी के लिए होती है, वह चिन्ता क्या पराये के लिए होती है, वह क्या कुछ भी अपना नहीं है? फिर इस अनमनेपन में ही क्या राम अपनाने के लिए हाथ नहीं बढ़ाते आये हैं, क्या न-कुछ होना और न-कुछ बनाना ही अपनाने की उनकी बढ़ी हुई शर्त नहीं है?

तार टूट जाता है, मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, यह भीतर से कहाँ पाऊँ? अपनी उदासी से ऐसा चिपकाव अपने संकरे-से दर्द से ऐसा रिश्ता, राम को अपना कहने के लिए केवल उनके लिए भरा हुआ हृदय कहाँ पाऊँ? मैं शब्दों के घने जंगलों में हिरा गया हूँ। जानता हूँ, इन्हीं जंगलों के आसपास किसी टेकड़ी पर राम की पर्णकुटी है, पर इन उलझानेवाले शब्दों के अलावा मेरे पास कोई राह नहीं। शायद सामने उपस्थित अपने ही मनोराज्य के युवराज, अपने बचे-खुचे स्नेह के पात्र, अपने भविष्यत् के संकट की चिंता में राम के निर्वासन का जो ध्यान आ जाता है, उनसे भी अधिक एक बिजली से जगमगाते शहर में एक पढ़ी-लिखी चंद दिनों की मेहमान लड़की के एक रात कुछ देर से लौटने पर अकारण चिंता हो जाती है। उसमें सीता का खयाल आ जाता है, वह राम के मुकुट या सीता के सिंदूर के भीगने की आशका से जोड़े न जोड़े, आज की दरिद्र अर्थहीन, उदासी को कुछ ऐसा अर्थ नहीं दे देता, जिससे जिंदगी ऊब से कुछ उबर सके?

और इतने में पूरब से हल्की उजास आती है और शहर के इस शोर-भरे बियाबान में चक्की के स्वर के साथ चढ़ती-उतरती जंतसार गीति हल्की-सी सिहरन पैदा कर जाती है। 'मोरे राम के भीजै मुकुटवा' और अमचूर की

तरह विश्वविद्यालयी जीवन की नीरसता मे सूखा मन कुछ जरूर ऊपरी सतह पर ही सही भीगता नहीं, तो कुछ नम तो जरूर ही हो जाता है, और महीनों की उमड़ी-घुमड़ी उदासी बरसने-बरसने को आ जाती है। बरस न पाये, यह अलग बात है (कुछ भीतर भाप हो, तब न बरसे), पर बरसने का यह भाव जिस ओर से आ रहा है, उधर राह होनी चाहिए। इतनी असख्य कौसल्याओं के कंठ में बसी हुई जो एक अरूप ध्वनिमयी कौसल्या है। अपनी सृष्टि के संकट में उसके सतत् उत्कर्ष के लिए आकुल, उस कौसल्या की ओर, उस मानवीय संवेदना की ओर ही कहीं राह है, घास के नीचे दबी हुई। पर उस घास की महिमा अपरंपार है, उसे तो आज वन्य पशुओं का राजकीय संरक्षित क्षेत्र बनाया जा रहा है, नीचे ढकी हुई राह तो सैलानियों के घूमने के लिए, वन्य पशुओं के प्रदर्शन के लिए, फोटो खीचनेवालों की चमकती छवि यात्राओ के लिए बहुत ही रमणीक स्थली बनायी जा रही है। उस राह पर तुलसी और उनके मानस के नाम पर बड़े-बड़े तमाशे होंगे, फुलझड़ियाँ दगेंगी, सैर-सपाटे होंगे, पर वह राह ढकी ही रह जायेगी, केवल चक्की का स्वर, श्रम का स्वर ढलती रात मे, भीगती रात मे अनसोये वात्सल्य का स्वर राह तलाशता रहेगा—किस ओर राम मुड़े होंगे, बारिश से बचने के लिए ? किस ओर ? किस ओर ? बता दो सखी।